वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र ।

अथवा

वैदिक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक
और राष्ट्रीय कर्तव्योंपर सप्रमाण
तुलनात्मक विचार ।

लेखक
श्री० पं० स्ना० धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार
विद्यावाचस्पति ।

प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मण्डल, औंध (जि. सातारा)

द्वितीयवार

संवत् १९८५; सन१९२८

ओ३म्।

समर्पणपत्र।

जिन के पवित्र कर-कमलों से लगाई हुई मनोहर

गुरुकुल-वाटिका

में निवास करके मुझे सुरभित श्रुतिकुसुमों के
दिव्य मधु- रस पान करने का सौभाग्य
प्राप्त हुआ उन अपने जगद्वन्द्य
पूज्यपाद आचार्य अत्यन्त
श्रद्धास्पद धर्मवीर स्वर्गीय

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

का पुण्य स्मरण करके दिव्यानन्द दायिनी
कुलमाता को श्रद्धापूर्वक यह तुच्छ भेंट
अर्पण करता हूं आशा है इसे सहर्ष
स्वीकार कर पुण्य आशीर्वादों
से अनुगृहीत करेगी।

विनीत आज्ञाकारी
पुत्र
धर्म देव

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर,
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध, (जि० सातारा)

ओ३म् ।

अत्यंत उपयोगी ग्रंथ ।

" वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र

प्रस्तावना

" वैदिक कर्तव्य शास्त्र " जैसे अत्यंत उपयोगी और प्रत्येक आर्यके नित्यके पढने योग्य प्रशंसनीय ग्रंथ का निर्माण करनेके कारण मैं श्रीयुत पंडित धर्मदेवजी सिद्धांतालंकार विद्यावाचस्पति का हार्दिक धन्यवाद करता हूं।

इस समय तक इस प्रकारका इस विषयपर एक भी ग्रंथ निर्माण नहीं हुआ, जो कि इसके साथ तुलना के लिये रखा जा सके। अतः इस समय यह ग्रंथ एक अद्वितीय ही ग्रंथ है, इस कथन में संदेह करनेके लिये बिलकुल स्थान नहीं है। यों तो वैदिक वाङ्मयपर अनेकानेक ग्रंथ बने हैं, परंतु वेदमें " कर्तव्य शास्त्र " विषयक शिक्षाएं कौनसी हैं, उनकी संगति लगाकर प्रकरण बद्ध पुस्तक लिखनेका साहस इस समयतक किसीने भी नहीं किया और नांही किसीने कर्तव्यशास्त्र विषयक वैदिक सिद्धांतों की तुलना अन्य मत मतांतरों के साथ करनेका यत्न किया है। ये दोनों महत्त्व पूर्ण विषय पाठक इस पुस्तक में देखेंगे, इसलिये मुझे पूर्ण आशा है कि वे इस पुस्तक को अपने विशेष अध्यन के लिये योग्य समझकर आदर की दृष्टिसे देखेंगे।

अब तक संस्कृतके विद्वान् पंडितों में यही विश्वास था, कि " वेदमें आचार विषयक तथा कर्तव्य शास्त्रविषयक कोई मननीय शिक्षा नहीं है। वेदके युरोपीयन पंडित यही कहा करते हैं कि वेदमें अग्नि, वायु, जल आदि निसर्गतत्त्वों की ही भक्ति है, इस लिये उसमें आचार शास्त्र विषयक सिद्धान्तों का अस्तित्त्व होना भी संभव नहीं. " इस भ्रमका उत्तर जैसा इस पुस्तक में श्री० पं. धर्मदेवजीने दिया है वैसा किसी ग्रंथमें दिया हुआ मैंने अभी तक देखा नहीं। इसलिये मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रंथ एक प्रकार से पाठकों के विचारों में योग्य क्रांति उत्पन्न करेगा। इस ग्रंथ की विशेषताके लिये यही एक हेतु पर्याप्त है।

इस पुस्तक में पाठक निम्न लिखित सिद्धांतों के विषय में अमूल्य उपदेश संग्रह देखेंगे-

(१) भ्रातृभाव तथा मित्रदृष्टि,
(२) सार्वभौम नियम,
(३) जीवन का उद्देश्य,
(४) आत्मौपम्य दृष्टि,
(५) कर्मका अबाधित नियम,
(६) पापनिवृत्तिका निश्चय,
(७) समविकास,
(८) व्यक्ति और समाज का संबंध,
(९) स्वतंत्रता संरक्षण,
(१०) कर्तव्यनिर्णय,
(११) परमात्मभक्ति,
(१२) आंतरिक और बाह्य पवित्रता,
(१३) आत्मसंयम,

(१४) कौटुंबिक कर्तव्य,

(१५) सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य ।

ये विषय प्रत्येक वैदिक धर्मी के लिये प्रतिदिन के उपयोग के हैं, और प्रत्येक वैदिक धर्मी वेदसे इन विषयों की शिक्षा लेनेमें अत्यंत आतुर रहता है । इस प्रकार के अत्यंत आवश्यक विषयोंका संग्रह इस पुस्तक में होनेके कारण यह ग्रंथ सार्वत्रिक उपयोग का होनेसे विशेष महत्वपूर्ण है, इसमें किसी को भी कोई शंका नहीं हो सकती ।

इसके पश्चात् अन्य धर्म ग्रंथों के आचार विषयक सिद्धांतों की तुलना करके जिस ढंगसे पंडित धर्मदेवजीने वैदिक कर्तव्य शास्त्र के सिद्धांतों की श्रेष्ठता सिद्ध की है वह पंडितजीका ही अपना ढंग है और इसलिये उनकी प्रशंसा हरएक पाठक मेरे साथ ही करेगा ।

ये हेतु हैं कि जिनके कारण मैं इस पुस्तक को अत्यंत उपकारक समझता हूं और मेरा पूर्ण विश्वास है कि हरएक पाठक इस पुस्तक के विषय में मेरे साथ ही सहमत होगा ।

इस पुस्तक के अन्यान्य प्रकरणोंमें जो जो वैदिक प्रमाण दिये गये हैं, उनमें से किसी किसी प्रमाण के विषय में किसी पाठकका मतभेद होना संभवनीय है, यह मतभेद हरएक ग्रंथमें दिये वैदिक प्रमाणोंके विषय में होना, इस समय की मंत्रार्थ की अनिश्चितताके कारण, संभवनीय ही है। इसलिये इसके होते हुए भी इस अत्यावश्यक विषय के " पहिले ग्रंथकार " होने का सन्मान श्री० पं० धर्मदेवजी को प्राप्त हुआ है,इसलिये आप अत्यंत धन्यवाद के योग्य हैं ।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

इतने प्रास्ताविक लेख के साथ यह पं० धर्मदेवजी का "वैदिक कर्तव्य शास्त्र" नामक ग्रंथ मैं पाठकों के सामने रखता हूं और पाठकों से कहता हूं कि पंडितजीनें गुरुकुल कांगडी से प्राप्त की हुई "सिद्धान्त-अलंकार" और "विद्यावाचस्पति" ये उपाधियाँ सार्थ की हैं।

औंध (जि. सातारा)
१ श्रावण संवत् १९८५

प्रस्तावक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल.

॥ओ३म्॥

प्रथम परिच्छेद।

कर्तव्य शास्त्र वह शास्त्र है, जो मानवीय जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य पर विचार करते हुए, एक व्यक्ति के अपने, अपने समान, अपने से हीन और उच्च स्थिति के लोगों के प्रति क्या कर्तव्य हैं, तथा इन कर्तव्यों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, इस विषयका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करता है। भारतीय प्राचीन संस्कृत साहित्य में कर्तव्य शास्त्र (वा Ethics) पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता; क्यों कि यह विषय धर्म का एक अत्यावश्यक अंग होने के कारण धर्म शास्त्रों में सर्वत्र निरूपित है। बौद्धधर्म तथा ईसाई मतके बाइबल इत्यादि ग्रंथों में आचारशास्त्र संबंधी कई अत्युत्तम उपदेश पाए जाते हैं। निष्पक्षपात दृष्टिसे मनुस्मृति, वाल्मिकिरामायण, महाभारत इत्यादि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया जाए, तो निश्चय हो जाएगा कि इन ग्रंथों में दी हुई आचार शास्त्र विषयक शिक्षाएं किसी अंश में भी बौद्ध तथा ईसाई मत की शिक्षाओं से कम नहीं। मान-

वीय पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है, इस बातको मैक्स-मूलर आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है । विकास वाद को स्वीकार करते हुए उन में से कइयों ने यह कल्पना की है कि, " वेद के अंदर आचारशास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाएं नहीं पाई जातीं । कर्म काण्ड अथवा यज्ञयाग की फजूल बातों से ही वेदका अधिक अंश भरा हुआ है, " इत्यादि । इस विचार की हम आगे चलकर समालोचना करेंगे । यहां वैदिक कर्तव्य शास्त्रके आधारभूत मूलसिद्धान्तों का केवल निर्देश करते हुए, उनमें से प्रत्येक पर वेद मंत्रों के प्रमाण द्वारा संक्षिप्त विचार करेंगे । वे मूलभूत सिद्धांत निम्न लिखित हैं ।—

वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धांत ।

(१) "परमेश्वर सब प्राणियोंका एक ही पिता है, "

अतः हम सब को परस्पर भ्रातृभाव तथा मित्रता दृष्टि धारण करनी चाहिये । अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये प्राणियों की हिंसा करना अनुचित है । द्वेषभाव को दूर करके प्रेम भाव की वृद्धि करनी चाहिये ।

(२) "परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है ।"

उस की अध्यक्षता में सार्वभौम अटल नियम कार्य कर रहे हैं । इनके पालन करने से ही मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है । इन का उल्लंघन करना अपने को आपत्तियों के मुह में डालना है ।

(३) "मनुष्य जीवन का उद्देश दिव्य शक्ति, दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति, दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष प्राप्त करना है।"

उस उद्देश्य की पूर्तिके लिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना, तथा निष्काम शुभ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) करना, मुख्य साधन है।

(४) "आत्मा दिव्यशक्तिसम्पन्न,अमर और शरीर, मन, बुद्धि का अधिष्ठाता है।"

सब प्राणियों में आत्मौपम्य दृष्टि को धारण करते हुए, व्यवहार करना चाहिये। आत्मा के अन्दर काम क्रोधादि शत्रुओं को वशमें करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है; उसको ईश्वर भक्ति, आत्मविश्वासादि द्वारा विकसित करते हुए, पवित्र जीवन बनाना चाहिये।

(५) "कर्म—नियम संसार में कार्य कर रहा है।"

किये हुएकर्म के फलसे कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्म फलदाता है। प्रार्थनादिका उद्देश्य भावी पापसे अपने को मुक्त करना है।

(६) "प्रत्येक व्यक्ति को सदा अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत, और पापसे पुण्यमार्ग की ओर आनेका यत्न करना चाहिये।"

इसके लिये दृढ निश्चय अत्यावश्यक है।

(७) "शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास होना चाहिये।"

इनमें से किसी एक शक्ति का विकास होना पर्याप्त नहीं । समविकास ही उन्नतिका मूलमन्त्र है ।

(८) "व्यक्ति समाज तथा राष्ट्रमें लगभग एकही अटल व्यापक नियम कार्य कर रहे हैं,"

व्यक्ति और समाज का अटूट संबंध समझते हुए, व्यक्ति को अपनी शक्तियां समाज की सेवा में लगा देनी चाहियें ।

(९) "बाह्य और आन्तरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है । "

स्वतंत्रता में ही आनन्द है, तथा परतंत्रता में दुःख है । अतः स्वतंत्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाजका " मुख्य धर्म " है ।

(१०) "कर्तव्य का निर्णय ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा पवित्र अन्तः करण की साक्षिसे हो सकता है ।"

सदाचारादि भी उस में सहायक हैं ।

(११) "सत्य ही के कारण इस पृथिवी का धारण हो रहा है।"

सत्य यश और श्री इन तीनों को उत्कृष्ट समझते हुए सत्य रक्षा के लिये सर्वस्व तक अर्पण करने को उद्यत रहना चाहिये ।

(१२) "परमेश्वर को सदा अपना रक्षक समझते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने अंदर निर्भयता पूर्णरूपसे धारण करनी चाहिये ।"

इन सिद्धान्तों पर अब क्रमशः विचार करेंगे ।—

प्रथम सिद्धांत

(१) भ्रातृभाव तथा मित्रदृष्टि ।

——०——

परमेश्वर को पिता तथा मनुष्यमात्र को भाई माननेका जो उच्च सिद्धान्त है, उसको सबसे पहले बाइबलमें ही प्रकाशित किया गया है, अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें इस उच्च भाव की कल्पना न थी, यह ईसाई मतका दावा है !! किन्तु निष्पक्षपात दृष्टिसे वेद के निम्न लिखित मंत्रोंपर क्षणभर भी विचार किया जाए, तो वेदके अन्दर परमेश्वर की न केवल पितृरूपेण किंतु साथ ही मातृरूपेण कल्पना की गई है, यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगा । उदाहरणार्थ-

(१) "यो नः पिता जनिता यो विधाता।" ऋ. १०।८२।३

(२) "स नो बंधुर्जनिता स विधाता।" यजु. ३२।१०

(३) "त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः।" ऋ. १।३१।१०

(४) "स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।" ऋ. १।१।९

इत्यादि स्थलोंमें परमेश्वर के लिये पिता शब्दका प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट है। परमेश्वर सबका समानरूपसे एक ही पिता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यजुर्वेद में-

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।"
य. ११।५

यह मंत्र आया है, जिसमें सब प्राणियों को एक ही अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र बताया गया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में आये हुए-

"त्वं हि नः पिता त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥" ऋ. ८।९८।११॥

इस मंत्र में तो साफ़ तौर पर परमेश्वर को पिता, माता बताते हुए उस से सुखकी प्रार्थना की गई है। परमेश्वर को पिता मानते हुए सब मनुष्यों और प्राणियों का भ्रातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है; तथापि यदि स्पष्ट वेदमंत्र की अपेक्षा समझी जाय, तो ऋग्वेद का निम्न लिखित मंत्र पेश किया जा सकता है।

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,।
संभ्रातरो वावृधुः सौभगय॥" ऋ. ५।६०।५

इस मंत्रका देवता मरुत् है, जिसका मनुष्यवाची होना श्री सायणाचार्यनेभी, "मनुष्यरूपा वा मरुतः।' इत्यादि वाक्यों द्वारा, स्पष्ट स्वीकार किया है। मंत्र का अर्थ यह है कि =(एते) ये सब मनुष्य (भ्रातरः) भाई हैं (अज्येष्ठासः) इनमें से कोई जन्मसे बडा नहीं (अकनिष्ठासः) कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब (सौभगाय) ऐश्वर्य वा उन्नति के लिये (सं वावृधुः) मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढते हैं। सार्वजनिक भ्रातृत्व वा (Universal Brotherhood) के उच्च सिद्धान्त का इस मंन्त्र में जितनी उत्तमतासे प्रतिपादन है उतना बहुत की कम दूसरे ग्रन्थों में पाया जाता है॥ परमेश्वर को पिता और प्राणिमात्र को परस्पर भाई मानने का स्वाभाविक परिणाम सब प्राणियों को मित्र दृष्टिसे देखना है। इसी लिये वेदमें प्रार्थना की गई है-

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥" य० ३६।१८

अर्थात् सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टिसे देखें, मैं सब प्राणियों को मित्रदृष्टिसे देखूं, हम सब परस्पर मित्रदृष्टिसे देखें। इससे बढ कर मित्रदृष्टि की शिक्षा देनेवाला उपदेश और क्या हो सकता है? इसी प्रसंग में "अनमित्रं नः पश्चादनमित्रं न उत्तरात्।" (अथर्व० ६। ४०। ३) यह वेद मंत्र द्रष्टव्य है, जिसमें सब दिशाओं में रहने वाले प्राणी हमारे मित्र बनें, शत्रुता का सर्वथा नाश हो जाए, यह प्रार्थना की गई है। द्वेषभाव उपर्युक्त सार्वजनिक भ्रातृत्व अथवा विश्व प्रेम के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिये वेद में स्थान स्थानपर द्वेषभाव को दूर करने के उपदेश और प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ-

(१) "विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। यजु. २१। ३।
अर्थात् हमारे से सब प्रकार के द्वेष भाव को दूर कर दो।

(२) यजु. १२। ४६ "युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।" यह प्रार्थना है जिसका अर्थ हमारे से सब द्वेष युक्त भावों को दूर कर दो ऐसा है।

(३) "आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम।" ऋ. ५। ४५। ५
यह प्रार्थना है, जिसका भाव यह है कि, हम (सनुतः) सदा (द्वेषांसि) द्वेषभावों को (आरे दधाम) दूर रखें।

(४) "अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम॥" यजु० १२। २९॥ अर्थात् हम सब द्वेष रहित द्युलोक और पृथिवी लोक को स्वीकार करते हैं, अथवा ये दोनों लोक द्वेषरहित हों। द्वेषका इन लोकों से समूल नाश हो जाए, यह भाव यहां अभिप्रेत मालूम होता है।

(५) "स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो असमदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥" अथर्व. २०। १२५। ७

अर्थात् सब की रक्षा करनेवाला परमेश्वर द्वेष के भाव को हमसे सदा दूर रखे ।

(६) "इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको
भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं
नःकृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥" अथर्व०२०।१२५।६॥

अर्थात् सर्वरक्षक सर्वज्ञ परमेश्वर हमारे लिये सदा सुखदायक हो । वह हमारे द्वेष भाव को दूर करके हमें निर्भय बनाए, ता कि हम उत्तम वीर्य के रक्षक स्वामी होवें ।

इस प्रकारके हजारों मन्त्र वेदोंसे उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु लेख विस्तारके भयसे हम इस विषय में अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझते। द्वेष भाव को दूर करने की प्रार्थना वेदमें कितने साफ शब्दोंमें पाई जाती है, इस बात को दिखाने के लिये इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं। द्वेष भाव को दूर करके परस्पर व्यवहार करना चाहिये, इसके अन्दर ही यद्यपि प्रेमभाव की वृद्धि का उपदेश पर्यायरूपेण आ जाता है, तथापि स्पष्टतया इस भावके द्योतक दो तीन वेद-मंत्रों को उद्धृत करना यहां अनुचित न होगा । —

(१)"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥" ऋ.१०।१९१।४:

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

(वः) तुम सब मनुष्यों का (आकूतिः) संकल्प (समानी) समान हो, वः (हृदयानि समाना) तुम सब के हृदय समान हों, (वः) तुह्मारा (मनः) मन (समानं अस्तु) समान होवे, (यथा) जिससे (वः) तुह्मारा (सु सह असति) मिलकर अभ्युदय हो सके । इस पर टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं ।

"यथा नः सर्वं इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत् ॥"

य० ३० । ८६

अर्थात् हमारा व्यवहार इस तरह का हो, जिससे (सर्वं इत् जनः) सब के सब मनुष्य (नः संगमे) हमारे संग में (अनमीवः) नीरोग तथा (सुमनाः) उत्तम मन वाले अर्थात् प्रीतियुक्त (असत्) हो जाएं ।

(३) अथर्ववेद तृतीय काण्ड के ३० वें सूक्त में इसी बात को बहुत ही साफ शब्दों में बताया गया है, जिसमें से दो मंत्रों को यहां उद्धृत किया जाता है—

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।"

परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि, मैं (वः) तुम्हारे अन्दर (स-हृदयम्) समानहृदय और (सांमनस्यं) समान प्रीति युक्त मन तथा (अ-वि-द्वेषं) द्वेषका सर्वथा अभाव (कृणोमि) स्थापित करता हूं, (अघ्न्या) गाय (जातं वत्सं इव) जैसे नये बछडेको प्यार करती है, वैसे तुम (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे के साथ (अभि हर्यत) प्रेम करो ।

(४) अथर्व के उसी सूक्तका ४ थं मंत्र इस प्रकार है—

" येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ "

अर्थात् (येन) जिस ज्ञान को प्राप्त कर के (देवाः) विद्वान् लोग (न वियन्ति) विरोध को नहीं प्राप्त होते, (नो च मिथः विद्विषते) और न परस्पर द्वेष करते हैं, (वः) तुह्मारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषोंके लिये (तत् ब्रह्म संज्ञानं) वह बडा विस्तृत ज्ञान (कृण्मः) देते हैं । यहां वैदिक ज्ञानसे अभिप्राय है, जो सम्पूर्ण विरोध भाव को हटाकर परस्पर प्रीति के भाव को [illegible] करने वाला है ।

(५)

"विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।
अति गाहेमहि द्विषः॥" ऋ० २।७।३॥

ऋग्वेदका यह मंत्र इस प्रकरणमें विशेष उल्लेख करने योग्य है। इस का अर्थ यह है कि, हे परमेश्वर! (उदन्या धारा इव) जिस प्रकार जल की धाराएं एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान पर जाती हैं, उस प्रकार (वयम्) हम (त्वया) तेरे आश्रय से (विश्वा उत द्विषः) सब के सब द्वेष युक्त भावों से (अति गाहेमहि) पार चले जाएं। परमेश्वर का आश्रय लेते हुए, सम्पूर्ण द्वेषभाव का नाश करके सब मनुष्यों को परस्पर मित्रभाव की वृद्धि करनी चाहिये, यह मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है।

(३) ऋग्वेद ३।२०।१ का निम्न लिखित मन्त्र विद्वान् लोग केवल अहिंसायुक्त व्यवहार को ही पसन्द करते हैं, इस बात को साफ जाहिर करता है, जो इस प्रकार है--

"सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः
सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥"

अर्थात् (सुज्योतिषः) उत्तम विद्या प्रकाश युक्त (सजोषसः) परस्पर समान प्रीतियुक्त (अध्वरं वावशानाः) अहिंसामय व्यवहार की कामना करने वाले वा उसे पसन्द करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (नः शृण्वन्तु) हमारी प्रार्थना को सुनें। "अध्वर" शब्द की निरुक्ति यास्क मुनिने "ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः," ऐसी बताई है, जिस से अध्वर शब्द का अहिंसा मय व्यवहार ही मुख्य अर्थ है, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है।

इस प्रकार अहिंसा धर्म के मुख्य मुख्य तत्त्वों का मूल वेदमें किस प्रकार उत्तम रीति से पाया जाता है, यह देखा जा सकता है। इस विषय के आक्षेपों तथा शंकाओं का आगे विचार किया जाएगा।

द्वितीय सिद्धांत।

(२) सार्वभौम नियम।

परमेश्वर की सर्वज्ञता का सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि, इस विषय में वेदमन्त्रों का प्रमाण देने की कुछ भी विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि तीन चार मंत्र यहां उद्धृत किये जाते हैं, जिससे इस के बारे में सन्देह न रहे।

"ऋग्वेदका प्रमाण।"

(१) ऋ. १० । ८२। ३ जिस का आधा अंश पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, ईश्वर की सर्वज्ञता का स्पष्टतया प्रतिपादन करता है, यथा—

"यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥" ऋ० १० । ८२ । ३

अर्थात् जो ईश्वर हम सब का पिता, उत्पादक और(विधाता) कर्मफल देनेवाला है, वही (विश्वा) सब (धामानि) कर्म तथा (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। इसी का पाठान्तर यजुर्वेद में-

"यजुर्वेदका प्रमाण।"

"स नो बंधुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥" यजु० ३२ । १०

इस रूप में पाया जाता है, जिसके अन्दर ऊपर दिया हुआ भाव समान ही है।

"अथर्व वेदका प्रमाण ।"

(२) अथर्व वेद चतुर्थ काण्ड के १६ वें सूक्त के अन्दर ईश्वर की सर्वज्ञता का अत्यन्त उत्तम काव्यमय वर्णन है। उसमें से निम्नलिखित दो तीन मन्त्र विशेष द्रष्टव्य हैं। इस सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है ।-

"यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यःप्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मंत्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥"

अ. ४ । १६ । २

अर्थात् (यः तिष्ठति) जो खडा होता है (चरति) चलता है, (यश्च वंचति) जो धोखा देता है, (यो निलायं चरति) जो अपने को छुपाकर घूमता है,(यः प्रतङ्कम्) जो दूसरे को कष्ट देकर इधर उधर जाता है, (द्वौ संनिषद्य) दो मित्र शान्ति से बैठ कर (यत् मंत्रयेते) जो गुप्त सलाह करते हैं,(तत्) उस सबको (तृतीयः वरुणः) तीसरा सर्वश्रेष्ठ (राजा) ईश्वर (वेद) जानता है। अभिप्राय यह है कि, उस सर्वज्ञ सर्व व्यापक से जिसके विषय में अगले ही मंत्र में कहा है कि " उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः " वह समुद्रों के अन्दर और इस थोडे से जलके अन्दर भी वही छिपा हुआ है। कोई भी अपने को गुप्त रख नहीं सकता। परमेश्वर को सर्वज्ञ सर्व व्यापक समझने से ही मनुष्य अपने को सब पाप व्यवहारों से दूर रख सकता है।

(३)

"सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ॥"

अथर्व. ४ । १३ । ५ ॥

अर्थात् (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) पृथिवी और [illegible]लोक के अन्दर है, और (यत् परस्तात्) जो कुछ इन लोकों [illegible]े है. (राजा वरुणः) सर्वोत्तम परमेश्वर (तत् सर्वं विचष्टे)

उस सब को जानता है। इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक समझकर अब सर्वज्ञ ईश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, उन का थोडासा विचार किया जाता है। इन अटल नियमों को वेद में प्रायः "ऋत और सत्य" के नाम से कहा गया है। प्राकृतिक जगत् के अन्दर कार्य करनेवाले अटल व्यापक नियम "ऋत" और अध्यात्मिक जगत् के अन्दर काम करने वाले नियमों को प्रायः "सत्य" नाम से बताया गया है। इस विषयमें ऋग्वेदका प्रसिद्ध मन्त्र-

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत।" ऋ. १०।१९०।१

विशेष विचारणीय है, जिस का अभिप्राय यह है कि (ऋतं च सत्यं च) भौतिक तथा अध्यात्मिक जगत् में काम करने वाले नियम (अभीद्धात्) सब तरफ से प्रकाशमान (तपसः) सर्वज्ञ परमेश्वर से (अध्यजायत) उत्पन्न हुए। तप के इस अर्थ के लिये-

"यस्य ज्ञानमयं तपः"

यह मुण्डकोपनिषत् का प्रमाण है। इस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में अटल नियम संसार में कार्य कर रहे हैं, यह वेद मंत्र का स्पष्ट भाव प्रतीत होता है।

इन अटल नियमों का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा कल्याण प्राप्त हो सकता है, यह बात वेद में-

"सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतंयते।
नात्रावखादो अस्ति वः।" ऋग्वेद १।४१।४

इत्यादि मंत्रों द्वारा स्पष्ट की गई है,। जिस का अभिप्राय यह है कि, (ऋतंयते) परमेश्वर के बनाये हुए अटल नियम के अनुसार चलनेवाले के लिये (सुगः) सुगम (अनृक्षरः पन्थाः) निष्कण्टक मार्ग हो जाता है, (आदित्यासः) हे आदित्य ब्रह्म-

चारियो ! (वः) तुह्मारे इस शुभ मार्ग में (अवखादः) भय (न) नहीं है, अर्थात् जो लोग परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलते हैं, वेही सुखी होते हैं।। इसी भाव को समझने के लिये निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये-

(२)

"प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥"

ऋ. ३ । ५९ । २ ॥

अर्थात् हे (मित्र) सब के हित करने वाले (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर (यः) जो पुरुष (तव व्रतेत शिक्षति) तेरे अटल नियम से शिक्षा ग्रहण करता है, अथवा उस के अनुसार चलता है, (स मर्तः) वह मनुष्य (प्रयस्वान् अस्तु) कान्ति वा ऐश्वर्य युक्त बनता है । (त्वोतः) तेरे से रक्षित होता हुआ, वह (न हन्यते) न मारा जाता है, (उत) और (न जीयते) न नीच शत्रुओं से जीता जाता है। (एनम्) इस पुरुष को (अन्तितः) समीप से अथवा (दूरात्) दूर से (अंहः) पाप का भय (न अश्नोति) नहीं प्राप्त होता। भावार्थ यह है कि, परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलने में मनुष्य पाप और भय से मुक्त होकर ऐश्वर्य शाली होता है।

(३) ऋग्वेद १ । ९१ । ७ का मंत्र इस विषयमें और भी स्पष्ट है अतः यहां उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा—

"त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते दक्षं दधासि जीवसे॥"

ऋ. १ । ९१ । ७

इस मंत्रका म. ग्रिफिथ इस प्रकार अनुवाद करते हैं-

"To him who keeps the law whether old or young,
Thou givest happiness and energy that he may live

well." अर्थात् जो ईश्वरीय नियमों का पालन करता है, वह चाहे युवक हो वा वृद्ध, परमेश्वर उसको सुख और शक्ति देता है, जिससे वह अपने जीवन को अच्छी प्रकार व्यतीत कर सके। परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, जिनके अनुसार कोई भी अपने को बुरे कर्मों के कटु फल से बचा नहीं सकता, चाहे वह कर्म कितना भी छिपकर किया गया हो। यही सुख प्राप्त करनेका सर्वोत्तम साधन है। देवों अथवा ज्ञानियोंका महत्त्व इसीमें है, कि वे उन अटल नियमोंका पूर्ण रीतिसे ज्ञान प्राप्त करते हुए, सदा उनके अनुकूल अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं। कभी वे उन अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं चलते। देखिये वेदका कथन इस विषयमें कितना साफ है—

"ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥"

ऋ. ७।६६।१३

अर्थात्, हे (ऋतावानः) सत्य युक्त (ऋतजाताः) सत्य से उत्पन्न हुए (ऋतावृधः) सत्यकी सदा वृद्धि करने वाले (घोरासः अनृतद्विषः) असत्य के भयंकर विरोधी देव लोगो! हम (नरः) साधारण पुरुष (ये च सूरयः) और जो विद्वान् हैं, वे सब (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) अत्यंत सुरक्षित (सुम्ने) आश्रयमें (स्याम) रहें।

तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार देव लोग सदा सत्यके व्रतका पालन करने अथवा ईश्वरीय नियमोंके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के कारण सुखी तथा निर्भय होकर विचरण करते हैं, वैसे हम सब भी करें।

दूसरे सिद्धांत के विषयमें इतना ही लेख पर्याप्त है। इन व्यापक नियमोंको जान कर प्रत्येक पुरुषको अपना जीवन पवित्र और

सुख मय बताना चाहिये । जो पुरुष अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये दूसरों को धोखा देता है, अथवा असत्य व्यवहार करता है, वह कुछ समय के लिये भले ही उन्नत होता हुआ दिखाई दे, किंतु सच्चा सुख उसे कभी प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध जानेका कडुवा फल उसको एक न एक दिन अवश्यही चखना पडता है ।

तृतीय सिद्धांत ।

(३) जीवन का अन्तिम उद्देश्य ।

कर्तव्य शास्त्र जिन समस्याओं और गूढ प्रश्नों का उत्तर देने के लिये प्रवृत्त हुआ है, उन में से सब से मुख्य प्रश्न यह है कि, मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय, लक्ष्य वा उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न के विचारकों ने भिन्न भिन्न उत्तर दिये हैं । कई नास्तिक विचारकों ने केवल भोग करने को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जैसे चार्वाकादि; कइयों ने ब्रह्मके अन्दर लीन हो जाना, इस को मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य स्वीकार किया है, जैसे अद्वैतवादी; और कई विचारकों ने दुःख से छूट कर निर्वाण प्राप्त कर लेना, यही अन्तिम ध्येय है, ऐसा बताया है, जैसे बुद्ध आदि। यहां इस विषय पर विवाद न करते हुए वैदिक भाव मनुष्य जीवन के ध्येय के विषय में क्या है, इस बात का संक्षेप से विचार करना है । इस विषय में निम्न लिखित कुछ मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है—

"यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥" ऋ. ९।११३।७

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे (इन्दो) सर्व प्रकाशक ज्ञान मय परमेश्वर (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहां निरंतर ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस स्थान अथवा अवस्था में (स्वः) सुख (हितम्) रखा हुआ है (तस्मिन्) उस (अमृते लोके) अविनाशी लोकमें अथवा दशा में उस (अक्षिते) क्षय रहित अवस्था में, हे (पवमान) सब को पवित्र करने वाले प्रभो (मां धेहि) मुझे धारण करो, (इंद्राय परिस्रव) मुझ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य की वृष्टि करो। ऋग्वेद के इस मन्त्र में निरंतर ज्योति और सुख युक्त अविनाशी लोक में रहना ही मनुष्य जीवन का ध्येय बताया है। इस भाव को और अच्छी प्रकार समझने के लिये इसी सूक्त का अन्तिम मन्त्र देखना चाहिये—

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥" ऋ॰ ९।११३।११

अर्थात् हे (इन्दो) सब को चन्द्र के समान आह्लाद देने वाले प्रभो! (यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च) जहां हर्ष और प्रसन्नता है, (यत्र मुदः प्रमुदः आसते) जहां हर्ष और बहुत ही अधिक हर्ष है, (कामस्य) कामना करने वाले जीव की (कामाः) सब कामनाएं (यत्र आप्ताः) जहां सिद्ध हो जाती हैं, (तत्र) उस अवस्था में (माम्) मुझे (अमृतं कृधि) अमर बनाओ (इन्द्राय) सब प्रकार के ऐश्वर्य की (परिस्रव) मेरे ऊपर वृष्टि करो।

भावार्थ यह है कि दिव्य आनन्द को प्राप्त करना, जहां स्थिर आनन्द हो, उसके साथ दुःख का मिश्रण न हो, और जिस प्रकार लौकिक विषय एक के बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी, कामना को उत्पन्न कर के पुरुष को अशान्त बना देते हैं, वैसी अवस्था न हो कर, जहां जीव के सब मनोरथ सफल हो जाएं उस

अलौकिक आनन्द और शान्ति की अवस्था तक पहुंचना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का ध्येय है।

(३) इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद १० मण्डल का ३६ वाँ सूक्त विशेष द्रष्टव्य है। उस में से एक मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

"विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः। स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्यावृणीमहे॥" ऋ. १०।३६।३

अर्थात् (मित्रस्य) सब के साथ प्रेम करने वाले और (रेवतः वरुणस्य) ऐश्वर्य शाली श्रेष्ठ पुरुष की (माता अदितिः) अदीन स्वतन्त्रता प्रिय माता (नः) हमें (विश्वस्मात् अंहसः) सब प्रकार के पाप से (पातु) बचावे, जिस से हम (अवृकम्) पाप रहित (स्वर्वत्) सुख युक्त (ज्योतिः) प्रकाश (नशीमहि) प्राप्त करें (तत्) उसी ज्योति और सुख को प्राप्त करने के लिये (देवानाम्) ज्ञानियों की (अवः) रक्षा को (अद्य) आज हम (आवृणीमहे) सब ओर से स्वीकार करते और चाहते हैं।

अदिति शब्द का अर्थ बन्धन रहित परमेश्वर भी हो सकता है, उस दशा में मित्र वरुण शब्दों से सूर्य चन्द्र का ग्रहण किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पाप से निवृत्त हो कर दिव्य सुख और दिव्य ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है। उस आदर्श तक पहुंचने के लिये शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के समविकाश की आवश्यकता है, इस भाव को निम्न लिखित वेद मंत्र में साफ तौर पर प्रकट किया गया है—

"विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्त अनमीवा अनागसः। उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्यम्॥" ऋ. १०।३७।७

इस मन्त्र में सूर्य पद से न केवल भौतिक सूर्य का किन्तु सर्व प्रकाशक परमेश्वर का भी ग्रहण है, यह सारे सूक्त को देखने से स्पष्ट विदित होता है। हे (मित्रमहः) मित्रों द्वारा पूजनीय परमेश्वर ! हम सब (जीवाः) जीव (विश्वाहा) सदा (सुमनसः) उत्तम मन वाले (सुचक्षसः) उत्तम दृष्टि वाले (प्रजावन्तः) उत्तम सन्तान युक्त (अनमीवाः) सब रोगों से रहित (अनागसः) सब पापों वा अपराधोंसे रहित हो कर (दिवे दिवे) प्रति दिन (उद्यन्तं त्वा) हृदय में प्रकाशित होने वाले तुझ (सूर्यम्) सर्व प्रकाशक प्रभुको (ज्योग्) चिर काल तक अथवा दीर्घ आयु तक (प्रति पश्येम) देखते रहें ।

अभिप्राय यह है कि, उत्तम मन, इन्द्रिय, प्रजा, आदि को धारण करते हुए, और सब पापों से रहित पवित्र जीवन बनाते हुए, सर्व प्रकाशक भगवान् की हृदय में प्रकाशित होनेवाली ज्योति के दर्शन करना, यही मनुष्य जीवनका एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इस मन्त्र से जीव ईश्वर का भेद भी स्पष्ट रीतिसे सूचित होता है। इस दिव्य ज्योति की प्राप्ति परमेश्वर की दया से ही हो सकती है, इस अभिप्राय को वेद में स्थान स्थान पर स्पष्ट किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्व वेद २० । ७९ । १ के निम्न मन्त्र को देखिये।

"इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥" अ. २० । ७९ । १

जिस का अर्थ यह है कि, हे (इन्द्र) ऐश्वर्य युक्त प्रभो ! (पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र की कामनाको पूर्ण करता है, इस प्रकार तू (नः क्रतुम्) हमारी कामना वा संकल्प को (आभर) पूर्ण कर । हे (पुरुहूत) अनेक विद्वानों द्वारा स्तुति किये गये परमेश्वर ! (अस्मिन् यामनि) इस समय (नः शिक्ष)

हमें तू शिक्षा दे, ता कि हम (जीवाः)जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्योति को प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ही पिता माता के समान हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, उसी की कृपा से हम दिव्य ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय तक जो ऊपर मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, उन से दिव्य आनन्द तथा ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है; अब दिव्य शान्ति प्राप्त करनेके विषय में एक दो वेदमन्त्र दे कर इस विषय का उपसंहार कियाजाएगा।

अथर्व १९ वें काण्डका नवम सूक्त सम्पूर्ण इस विषयमें द्रष्टव्य है, केवल दो मन्त्र यहां उद्धृत करना पर्याप्त है-

(१)

"शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥" मं. २.

अर्थात् (पूर्व रूपाणि) भावी परिवर्तन के पूर्व दिखाई देने वाले रूप (शान्तानि सन्तु) शान्ति देनेवाले हों, (नः कृताकृतम्) हमारे किये हुए और न किये हुए सब कर्म (शान्तम् अस्तु) शान्ति दायक हों (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (शान्तम्) शान्ति युक्त हो (सर्वम् एव) सभी कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शान्ति दायक होवे। ऐसी अवस्था प्राप्त करनी चाहिये, जिस से भूत भविष्य वर्तमान में होने वाली कोई भी घटना वा पदार्थ हमारी शान्ति को भंग करने वाला न हो सके, यह इस वेद मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र का पिछला भाग इस प्रकार है-

" ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छिवं तच्छान्तं सर्वमेव शमस्तु नः॥ "

अ. १९।९।१४

इस का अर्थ यह है कि उन पृथ्वी जल वायु आदि की शान्तियों से, उन सब प्रकार की शान्तियों से, (शमयामः) हम सब कुछ शान्त बनाते हैं (यदिह घोरम्) जो कुछ इस संसार में भयंकर है (यत् इह क्रूरम्) जो कुछ यहां क्रूर है, (यत् इह पापम्) जो कुछ यहां पाप है (तेन) वह सब (शान्तम्) शान्त हो जाए (तत् शिवम्) वह सब अपनी भयङ्करतादि छोड कर शान्ति दायक हो जावे (सर्वम् एव) सब कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शान्ति दायक हो जावे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के अतिरिक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान अथवा यज्ञ इस ध्येय तक पहुंचनेका मुख्य साधन है। इस बातको दिखानेके लिये चारों वेदों में पाए जाने वाले पुरुष सूक्त के निम्न लिखित प्रसिद्ध वेदमन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है-

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥"
ऋ. १०। ८९। १६; यजु. ३१। १६ अथर्व. का. ७।५।१

इस मन्त्र का सरल अर्थ यह है कि (देवाः) ज्ञानी लोगों ने (यज्ञेन) देव पूजा, संगति करण, और दान के द्वारा (यज्ञम्) पूजनीय परमेश्वर की (अयजन्त) पूजा की (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्) वही यज्ञ पद वाच्य देव पूजा अर्थात् विद्वानों वा ईश्वर का सत्कार, संगति करण और दान सब से मुख्य धर्म हैं। (महिमानः) महत्व युक्त (ते) वे देव (यत्र) जहां (पूर्वे साध्याः) पूर्व सिद्ध ज्ञानी जाते रहे हैं उसी (नाकं) दुःख रहित मोक्ष स्थान को (सचन्त) प्राप्त करते हैं।

यज्ञ शब्द, "यज्-देव पूजा संगति-करण-दानेषु" इस अर्थ वाली यज् धातु से बना है, अतः उसके उपर्युक्त अर्थके विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। मुख्यतः यज्ञ विधायक यजुर्वेद के १ म अध्याय के प्रथम मन्त्र के "देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे" ये शब्द स्पष्ट यज्ञ का मुख्य अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना दे रहे हैं। इस प्रकार वेद मन्त्रों के आधार पर विचार करने पर दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति और दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय होना चाहिये, यह बात साफ विदित होती है। इन तीनों शब्दों की थोडीसी व्याख्या कर देना आवश्यक है, ताकि वैदिक भाव स्पष्ट समझ में आजाए। दिव्य शान्ति से अभिप्राय उस मानसिक वा आत्मिक शान्ति से है, जिस की प्राप्ति पर सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अवमान, इत्यादि सब द्वन्द्वों में मन समान रूप अथवा क्षोभ रहित रहता है। दिव्य ज्योतिका तात्पर्य सर्व व्याप्त भगवान् की सत्ता को संसार के प्रत्येक पदार्थ और घटना में अनुभव करनेका है और दिव्य आनन्दका आशय—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

उपनिषद् के इस वचन के अनुसार आनन्द मय भगवान् की अध्यक्षता में इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है, यह समझते हुए सर्वदा आनन्दित रहने का है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति भी जीवन का ध्येय है, जिस के विषयमें आगे विचार किया जायगा। इस तृतीय सिद्धान्त के बारे में इतना ही लेख पर्याप्त है।

चतुर्थ सिद्धांत।

(४) आत्मौपम्य दृष्टि।

आत्मा की अमरता के विषय में यहां विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धान्त है। वेद में अग्नि, इन्द्र, इत्यादि नामों से अनेक स्थानों पर जीवात्मा का वर्णन आया है। ऋ. मं. १। १६४ के निम्न लिखित दो मंत्र स्पष्ट जीवात्मा की शरीर से पृथक् सत्ता और अमरताका प्रतिपादन करने वाले हैं।

(१)

"जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः॥"

ऋ. १। १६४। ३०.

अर्थात् (जीवः) जीव (अमर्त्यः) अमर किन्तु (मर्त्येन) मरणशील नश्वर शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला है, वह (मर्तस्य स्वधाभिः) मृत पुरुषादि प्राणियों की शक्तियों के साथ (चरति) विचरण करता है। आत्मा यद्यपि स्वयं अमर है, तथापि शरीर के अन्दर प्रवेश करना ही उस का जन्म कहा जाता है। इस शरीर के छूट जाने पर भी जीवात्मा नष्ट नहीं होता, किन्तु प्राणियों की शक्तियों और अच्छे बुरे कर्मों के साथ विचरण करता है। स्वधा शब्द का अर्थ स्वकीय धारणा शक्ति यह प्रसिद्ध ही है; यहां अभिप्राय कर्म से मालूम होता है। अगला मन्त्र जीवात्मा का और भी स्पष्ट वर्णन करता है, यथा-

"अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥"
ऋ. १।१६४।३१.

ज्ञानी पुरुष के मुख से इस मन्त्र का उपदेश कराया गया है। (अनिपद्यमानम्) नष्ट न होने वाले अर्थात् अमर (आ च परा च) इधर उधर (पथिभिः चरन्तम्) अनेक मार्गों से भ्रमण करने वाले (गोपाम्) इन्द्रियों के रक्षक वा राजा इस जीव को (अपश्यम्) मैं ने देख लिया है। इस जीवात्माका साक्षात्कार कर लिया है। (सः) वह जीवात्मा का (सध्रीचीः) अनुकूल अथवा सुखदायक (सः) वही (विषूचीः) प्रतिकूल योनियों को (वसानः) धारण करता हुआ (भुवनेषु अन्तः) लोकों के अन्दर (आवरीवर्ति) वार वार चक्कर लगाता है। भावार्थ यह है कि, जीवात्मा अमर और इन्द्रियादि का अधिष्ठाता है वही अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं होता इस सिद्धान्त को समझलेने से मनुष्य का जीवन कितना उच्च हो सकता है इस की कल्पना सुकरात, वीर हकीकत, ऋषि दयानन्द,आदि धर्मवीरोंके चरित्र पढनेसे की जा सकतीहै।

यह इन्द्र (जीव) ही शरीर रूपी जगत् का एक मात्र अधिष्ठाता है और इसके अन्दर काम क्रोधादि सब शत्रुओंको वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, इस बातको प्रमाणित करनेके लिये निम्न लिखित मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं-

१

"अहमस्मि सपत्नहा इंद्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥"
ऋ. १०।१६६।२

यह मन्त्र आधिभौतिक अर्थ में समाज विघातक शत्रुओं और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा की शक्ति को क्षीण करने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं को पूर्ण रूपसे वश में करने की शक्ति आत्मा के अन्दर है इस भावको सूचित करता है। शब्दार्थ इस प्रकार है (अहम्) मैं आत्मा (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाश करने वाला (अस्मि) हूं, (इन्द्र इव) सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर की तरह मैं भी (अरिष्टः) अमंगल रहित और (अक्षतः) रोगादि बाधा रहित हूं। (इमे सपत्नाः) ये सब काम क्रोधादि शत्रु (मे पदोः अधः) मेरे पैरों के नीचे (अभिष्ठिताः)खडे हुए हैं, अर्थात् इन आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं की कोई ताकत नहीं कि वे मुझ आत्मा को अपनी अधीनता में रख सकें। क्षत्रिय बाह्य शत्रुओं का सामना करनेके लिये अपने अन्दर इस प्रकार का साहस और आत्म विश्वास उत्पन्न करे, जिससे शत्रु उसका कुछ न बिगाड सकें। इस प्रकारके वेद मन्त्रों में मैं समझता हूं, कि अध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही भाव अभिप्रेत हैं।

(२) इस इन्द्र (जीव) की शक्ति के विषय में ऋ. १०।४८।५ का निम्न लिखित मन्त्र देखने योग्य है।—

" अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन॥"

यहां इन्द्र पद से ईश्वर और जीव दोनों का ग्रहण है। जीव पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा कि,(अहम्) मैं (इन्द्रः) ऐश्वर्य युक्त वा शक्तिशाली आत्मा हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं, (धनं न परा जिग्ये) मैं अपने सामर्थ्य रूपी अमूल्य धन को नहीं खोऊंगा। मैं (मृत्यवे) मृत्युके लिये (कदाचन) कभी (न अवतस्थे) नहीं खडा होता, अर्थात् मुझ आत्मा की कभी मृत्यु नहीं हो सकती। इस प्रकार यहां आत्मा की अमरता तथा शरीरसे पृथक् सत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। अपने को शरीर से

पृथक् समझते हुए अपनी दिव्य शक्ति की वृद्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा यत्न करना चाहिये यह इस मंत्र का भावार्थ है।

(३) इन्द्र (जीव) की इस गुप्त शक्ति को बढाने के लिये आत्म विश्वास की वडी भारी आवश्यकता है, अतः वेद मंत्रों में बार बार आत्मविश्वास वर्धक भावनाओं का निर्देश किया गया है; उदाहरणार्थ अथर्व १९। ५१ में इस भावना को धारण करने का उपदेश है–

" अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥"

जिस का अर्थ यह है कि (अहम्)मैं (अयुतः) सर्वथा अपराजित हूं, मुझे कोई दबा नहीं सकता, (मे आत्मा अयुतः) मेरा आत्मा विजयी स्वाधीन वा पराक्रमी है, किसी से दबने वाला नहीं है, (मे चक्षुः, श्रोत्रं, प्राणः, अपानः, व्यानः अयुताः) मेरे सब इन्द्रिय तथा प्राण शक्ति शाली हैं, (अयुतः अहं सर्वः) मैं सारे का सारा अयुत अर्थात् पराक्रमी, अधृष्य हूं, संसार की कोई शक्ति नहीं कि जो इस आत्मा को दबा कर रख सके, इस प्रकार की भावना धारण करने से ही आत्मिक दिव्य शक्ति का प्रकाश होता है। अपने को हीन दीन दुर्बल मानने और दिन रात् निर्बलता के विचार रखने से आत्मा की शक्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है, अतः वैसे अवैदिक भावों को धारण करना सर्वथा अनुचित है। वेद में परमेश्वर को " आत्मदा " और " बलदा " (ऋ १० । १२१ । २)अर्थात् आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल को देने वाला बताया गया है, और " बलमसि बलं मयि धेहि " इत्यादि मंत्रों द्वारा उसी से बल की प्रार्थना की गई है क्यों कि सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत वही है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में ईश्वर

भक्ति और आत्मविश्वास से गुप्त आत्मिक दिव्य शक्ति की वृद्धि होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब सब प्राणियों में सुख दुःख अनुभव करने वाले आत्मा की सत्ता को मानते हुए अपने समान उनके साथ व्यवहार करना चाहिये, इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक दो वेद मन्त्र उद्धृत करके अगले विषय को लेंगे। इस विषय में यजु० अ०४० के ये दो मन्त्र विचारणीय हैं,—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
यजु. ४७। ६

अर्थात् (यः तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) सब भूतों को (आत्मन् एव) आत्मा—परमात्मा में ही (अनुपश्यति) देखता है, (सर्व भूतेषु च) और सब प्राणियोंमें (आत्मानम् अनुपश्यति) विद्यमान आत्मा को देखता है, (ततः) उस ज्ञान होनेके पश्चात् (न विचिकित्सति) वह आत्मा की सत्ता में कभी सन्देह नहीं करता, अथवा "विजुगुप्सतो" इस पाठ को मानने पर वह सर्व भूतों में व्यापक एक परमात्माको मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख दुःखका अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है। इस बातको मानने वाला ज्ञानी कभी किसी से घृणा नहीं करता, यह वेद मन्त्रका स्पष्ट अभिप्राय है। अपने पेट को भरने के लिये निरपराध प्राणियों के गले पर छुरी चलाना वेदकी आज्ञा के स्पष्ट विरुद्ध है, यह इसी से ज्ञात हो सकता है।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः॥
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" यजु. ४०। ७

इस मंत्र के अर्थ के विषय में विचारकों के अन्दर मतभेद है, तथापि हमारे विचार में इस का अर्थ यह है, कि (यस्मिन्) जिस अवस्था विशेष में (विजानतः) ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपने आत्मा के ही समान हो जाते हैं, अर्थात् जब पुरुष अपने आत्मा के समान सब के अन्दर समान रूप से आत्मा को जानते हुए सब के साथ प्रेम करने लगता है, (तत्र) उस अवस्था विशेष में (एकत्वम् अनुपश्यतः) सब प्राणियों में आत्म-दृष्टि से एकता को अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिये (कः मोहः) मोह क्या और (कः शोकः) शोक क्या रह सकता है?

" आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पंडितः । "

इस प्रसिद्ध उक्ति के अन्दर पाये जाने वाले तत्व का ही गुप्त रूप से इस वेद मंत्र के अन्दर उपदेश किया गया है। इस विषय में और कुछ लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। कर्तव्य शास्त्र के साथ अथवा जीवन की पवित्रता सम्पादन करने के साथ इस आत्मा की अमरता-आत्मौपम्य दृष्टि आदि विषयक सिद्धान्त का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बात थोडी गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकती है।

पञ्चम सिद्धान्त ।

(५) कर्म नियम ।

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में संसार के अन्दर जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, यह कर्म नियम उन्हीं में से एक है। परमेश्वर कर्म फल दाता है और जीव को अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पडता है, इस बात का प्रतिपादन करने वाले

वेद में सैंकड़ों मंत्र पाए जाते हैं, जिन में से केवल दो तीन का निर्देश करना यहां पर्याप्त है। इन में से प्रथम ऋग्वेद मं. १ सू. १६४ का २० वां मंत्र है, जिस में जीव ईश्वर की दो पक्षियों के रूप में कल्पना करते हुए यह कहा है कि—

(१)

" द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभि चाकशीति॥ "

अर्थात् (समाने वृक्षे) अनादि होने से समान प्रकृति रूपी वृक्ष पर (सयुजा) एक दूसरे से योग करने वाले [क्यों कि जीव ईश्वरका सम्बन्ध व्याप्य व्यापक, उपासक उपास्य, पुत्र पिता आदि का है] (सखायौ) परस्पर मित्ररूप (द्वा सुपर्णा) दो पक्षी (परिषस्वजाते) मिल कर बैठते वा एक दूसरेका अलिङ्गन करते हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनों में से एक पक्षी (जीवात्मा-रूपी) (स्वादु पिप्पलम् अत्ति) स्वादु फलका भोग करता है, (अन्यः) दूसरा ईश्वररूपी पक्षी (अनश्नन्) स्वयं भोग न करते हुए केवल (अभि चाकशीती) साक्षी बन के देखता रहता है। स्वादु फल यह यहां उपलक्षण मात्र है, बुरे कर्मका फल बुरा ही भोगना पडता है। मं. २२ में ' मध्वदः ' यह जीवों का विशेषण और ' तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे ' इन शब्दों द्वारा जीवोंके कर्मके अनुसार स्वादु मधुर और कटु फल चखनेका साफ तौर पर निर्देश किया गया है। अथर्व का ४। १६ के कुछ मन्त्र पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। दो एक और मन्त्र इस विषयमें अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यहां उद्धृत किये जाते हैं—

" उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥"

अ० ४। १६। ४

इस मन्त्र में आलङ्कारिक तौर पर अटल कर्म नियम का वर्णन किया गया है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

(उत यः द्याम् परस्तात् अति सर्पात्)जो द्युलोक के भी पार चला जाए वह भी (वरुणस्य राज्ञः) सर्वोत्तम ईश्वरके पाश वा राज्य से (न मुच्यातै) नहीं छूट सकता। (अस्य) इस परमेश्वर के (दिवस्पशः) दिव्य गुप्त चर (इदं प्रचरन्ति) इस सारे लोक में विचरण करते हैं, (सहस्राक्षाः) सहस्र नेत्र रखने वाले के समान वे दिव्य गुप्त चर अथवा अटल कर्मादि विषयक नियम (भूमिम् अति पश्यन्ति) पृथिवी का अच्छी प्रकार निरीक्षण करते हैं। वेद सर्वज्ञ भगवान् का काव्य है, अतः उसके वर्णन प्रायः कविता की दृष्टि से ही मान कर तात्पर्य समझना चाहिये, अन्यथा केवल शब्दार्थ समझने से कुछ काम नहीं चल सकता। यह बात स्पष्ट है कि ऊपर के मन्त्र में वरुण के गुप्तचरों से तात्पर्य किन्हीं फरिश्तों वा भूतों का नहीं अपितु विश्व व्यापक स्थिर कर्मादि नियमों का है। ये नियम समान रूपसे सर्वत्र भूलोक अन्तरिक्ष और द्युलोक में कार्य कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहाड की चोटी पर हो, गुफाके अन्दर हो, अथवा समुद्र के बीचमें हो, कहीं भी अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों के फलसे वह छुटकारा पा नहीं सकता। वरुण के पाशों से भी वेद प्रायः इसी अटल नियम का वर्णन करता है, यथा इसी सूक्त के मं. ७ में-

"शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।"

ये जो शब्द आये हैं इन का स्पष्टीकरण कर्म नियम के आधार पर ही किया जा सकता है। मन्त्र का अर्थ उस के अनुसार यह होगा कि, हे (नृचक्षः वरुण) मनुष्यों के कार्यों का निरीक्षण

करने वाले सर्वोत्तम परमेश्वर ! (एनं) इस पापी को (शतेन पाशैः) सैकड़ों पाशों से (अभिधेहि) धारण करो अथवा बांध दो। (अनृत-वाक्) असत्य भाषण करने वाला पुरुष (ते) तेरे बन्धनोंसे (मा मोचि) न छूटे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वा आलङ्कारिक रीतिसे कर्म नियम को स्वीकार किया गया है। परमेश्वर के लिये 'विधाता। शब्दका प्रयोग प्रायः वेद में पाया जाता है, जिस का मुख्य अर्थ ही कर्म फल दाता है। जीव के कर्मों के अनुसार अच्छी बुरी योनियों में जाने का पहले वर्णन किया जा चुका है।

किन्तु इस विषय में एक संशय प्रायः उत्पन्न होता है। यदि सचमुच वेदके अनुसार किये हुए कर्म नाश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता, तो प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है ? इस के उत्तर में निवेदन यह है कि प्रार्थना का उद्देश्य अपने अन्दर निरभिमानता तथा परमेश्वरको सहायक जानते हुए उत्साह पैदा करना है, न कि किये हुए पाप से छुटकारा पाना। जहां जहां पापसे छुडाने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं, वहां भावी पापसे मुक्त कराने अथवा किये हुए पापको फिर न करने का ही तात्पर्य समझना चाहिये। उदाहरणार्थ-

"यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥"

यह यजुर्वेद के ३ य अध्याय का ४५ वां मंत्र है। इस के अन्दर 'ग्राम, अरण्य, सभा, इन्द्रिय आदिमें (वयं यत् एनः चकृम)हमने जो पाप किया है (तत् इदं) उस इस सारे पाप को (अवयजामहे) हम दूर करते हैं, अर्थात् भविष्य में न करने का निश्चय करते हैं ऐसा कहा है जो भावी पाप से निवृत्ति का निर्देश करता है।

" कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥
राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि॥" ऋ. १।२४

इत्यादि मंत्रों में यद्यपि ऊपर से किये गये कर्मों के फलसे छुडाने का भाव प्रतीत होता है, पर गम्भीरतासे थोडा विचार किया जाय तो उनके अन्दर उन भूत काल में अज्ञान से किये हुए पापों को फिर न करने का भाव ही प्रधान मालूम देने लगता है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने ' कर्म प्रधान विश्वरचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा ' इन सुन्दर शब्दों में जिस कर्म नियम का प्रतिपादन किया है, वह वेद के अन्दर किस तरह पाया जाता है, यह संक्षेप से दिखाने के अनन्तर अब हम वैदिक कर्तव्य शास्त्र के छठे आधार भूत सिद्धान्त पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

षष्ठ सिद्धांत।

(६) पाप निवृत्ति के लिये निश्चय।

दिव्य ज्योति को प्राप्त करना वेद के अनुसार मनुष्यजीवन का एक मुख्य ध्येय है, यह तृतीय सिद्धान्त की व्याख्या में दिखाया जा चुका है। इस विषयमें अन्य प्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, तथापि अन्धकारसे ज्योति की ओर जाने का प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है, इस भावना को स्पष्ट करने के लिये ऋ० प्रथम मण्डलके ५० वें सूक्के सुप्रसिद्ध दसवें मन्त्र का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा जो इस प्रकार है—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

अर्थात् (वयं) हम सब (तमसः परि) अन्धकारसे परे (उत्तरं ज्योतिः) श्रेष्ठ आत्मिक ज्योति को (उत् पश्यन्तः) भली प्रकार देखते हुए (देवं देवत्रा) सूर्यादि देवों के भी प्रकाशक (सूर्यम्) अन्धार निवारक (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर की ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें। प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्धकार मय अवस्था में है, उसके अन्दर दिन रात मग्न रहना अर्थात् लौकिक विषयों का हर समय चिन्तन करते रहना, अपने को आध्यात्मिक अंधेरे के अन्दर रखना है। आत्मा चेतन होने के कारण एक विशेष ज्योति रखता है, अतः प्रकृति और उसके तत्त्वों से बने हुए इस शरीरके विचार से उठ कर आत्म तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये, और फिर सब ज्योतियों के आदिस्रोत सम्पूर्ण आत्मिक अन्धकार को दूर करने वाले भगवान् का चिन्तन करना उचित है; जिस की ज्योतिसे ये सूर्य चन्द्रादि सब देव प्रकाशित हो रहे हैं,

"तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"

इन्ही शब्दों में उदनिपद् ऊपर कहे हुए भाव को प्रकाशित करती है। वह ब्रह्मकी ही ज्योति है जिसके विषयमें उपनिषदों में लिखा है, कि—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।"

अर्थात् उस ब्रह्मके दर्शन करने पर हृदय की ग्रन्थि अथवा काम वासना सब नष्ट हो जाति है; सब सन्देह एक दम काफ़ूर हो जाते हैं और बन्धन में डालने वाले सब कर्मों का क्षय हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य यत्न करना चाहिये।

" अमृतत्व की प्राप्ति " मनुष्य जीवन के ध्येयों में से एक मुख्य ध्येय है, इस विषय के प्रमाणों को भी तृतीय सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उद्धृत किया जा चुका है, तथापि इस विषयमें यजुर्वेद के ३ य अध्यायका ६० वां मन्त्र द्रष्टव्य है जो निम्न प्रकार है।

" त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥"

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हम सब (सुगन्धिम्) उत्तम सुगन्धित पुष्पादि जिस ने बनाये हैं, ऐसे (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि की वृद्धि करने वाले पोषक (त्र्यम्बकम्) ज्ञान कर्म उपासना विधायक वेद जिस के नेत्र के समान दर्शन कराने का साधन हैं, ऐसे परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) फल विशेष (बन्धनात् इव) जैसे अपनी डारी से अलग होता है, वैसे मैं (मृत्योः मुक्षीय) मृत्युसे मुक्त होऊं, मृत्यु के बन्धन और भय से अपने को छुडा लूं; किन्तु (मा अमृतात्) अमृतत्व से कभी न छूटूं। त्र्यम्बकम् के उक्त अर्थ के लिये आधार 'वेद-त्रयी त्रिनेत्राणी' आदि स्कन्दपुराणाद्युक्त वचन हैं। आध्यात्मिक अर्थ में मृत्यु और अमृत पदों के भाव को स्वयं ऋग्वेद में 'यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः,' इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिनका तात्पर्य यह है, कि भगवान् की शरण में रहना अथवा दिन रात भगवान् के चिन्तन में तत्पर रहना और उस पर भरोसा रखना यही अमृत और उस से दूर रहना अथवा उस का क्षणिक विषयों का चिन्तन करना यही मृत्यु है। कठोपनिषत् के अन्दर—

" पराचः कामाननु संयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् "

इन शब्दों के द्वारा इसी वैदिक भाव की व्याख्या की गई है, जिन का अर्थ यह है, कि मूर्ख लोग क्षणिक बाह्य विषयों के पीछे दौड कर अपने को मृत्यु के फैले हुए जालमें डालते हैं। इस प्रकार मृत्युसे अमृत की ओर जाने का अभिप्राय क्षणिक विषयों से स्थिर शाश्वत जीवेश्वरादि आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन करने का है, यह स्पष्ट हो सकता है।

अब पापसे पुण्य मार्ग की ओर आनेका यत्न करना चाहिये; इस भाव की थोडी सी व्याख्या करनी है। वास्तवमें देखा जाए तो यही किसी भी कर्तव्य शास्त्रका आधारभूत मुख्य सिद्धान्त है। इस विषयके स्पष्टीकरण के लिये निम्न लिखित तीन चार मंत्रों पर विचार करना चाहिये।

(१) परि माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज॥ यजु. ४। २८

अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर! (मा) मुझे (दुश्चरिताद्) दुष्ट चरित्रसे (परि बाधस्व) दूर रखो और (मा सुचरिते भज) अच्छे चरित्र में मुझे सदा प्रीतियुक्त करो! मैं सब दुष्ट व्यवहारोंको त्याग कर उत्तम चरित्र वाला बनूं; यह इस मंत्रका स्पष्ट भाव है।

(२) ऋ. २। २७। ५ का निम्न मंत्र भी उसी भावका समर्थन करने वाला है। यथा-

"युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव, दुरितानि वृज्याम् "

अर्थात् (मित्रावरुणौ) मित्र दृष्टिसे सब को देखने वाले श्रेष्ठ सज्जनों वा अध्यापक व उपदेशक लोगो!(युष्माकं प्रणीतौ)तुम्हारे नेतृत्व में (श्वभ्रा इव) गर्तकी तरह सब पापोंका परित्याग करूं।

इस मंत्रमें पापकी गर्त वा गढे के साथ जो उपमा दी गई है, वह बडी महत्व पूर्ण है। जो पुरुष श्रेष्ठ लोगों की संगतिमें रहकर उनके साथ उत्तम मार्ग पर चलता है वही अवनति की तरफ से जानेवाले सब पापोंसे अपनेको शीघ्र मुक्त कर लेता है यह भाव मंत्र के अन्दर सूचित किया गया है।

(३) सामवेद पूर्वार्चिक ५।१।७ में भी बडी उत्तमता से सब प्रकार के पाप और दुष्ट विचारों से दूर रहने की प्रार्थना की गई है, जो इस प्रकार है-

" अपामीवामप स्रिधमपसेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥"

अर्थात् (आदित्यासः) हे सूर्य के समान तेजस्वी महात्मा पुरुषो ! (अमीवाम् अप) रोग को हम से दूर करो (स्रिधम् अप) हिंसा के भाव को हम से दूर करो (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि वा हीन विचार को (अप सेधत) दूर भगाओ, (नः) हमें (अंहसः) पापसे (युयोतन) दूर करो। न केवल बाह्य पाप किन्तु दुष्ट विचार, हिंसादि दुष्ट भाव तथा उनके परिणाम रोगादि से अपने को महात्माओं के संग द्वारा दूर रखने का सुन्दर उपदेश इस साम के मन्त्र में पाया जाता है, जो बार बार मनन करने योग्य है।

पाप से पुण्यमार्ग की ओर आने में कई कठिनाइयां आती हैं। अनेक प्रकार की विघ्न बाधाएं उपस्थित होती हैं अतः वेद मन्त्रों में इस विषयक दृढ निश्चय को अत्यावश्यक माना गया है। निम्न लिखित तीन चार मन्त्र इस विषय में विशेष द्रष्टव्य हैं।

(१) यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्॥
अथर्व ६।२६।२

अर्थात् (पाप्मन्) हे पाप (यः) जो तू (नः) हमें (न जहासि) नहीं छोडता (तं त्वा) उस तुझ को (वयं) हम (उ) निश्चय से (जहिमः) छोड देते हैं। एक वार जब पुरुप पाप के अन्दर फंस जाता है तो उस से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। कई वार उस पापका दास बन कर मनुष्य न चाहते हुए भी वार वार पाप कर वैठता है किन्तु दृढ निश्चय के द्वारा मनुष्य पाप पर विजय प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होता है। गीता में अर्जुन का—

" अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥"

भ० गी० ३। ६३

यह प्रश्न वेद मन्त्र के प्रथम भाग की ही एक प्रकार से प्रश्न रूप में व्याख्या है। दृढ निश्चय के सिवाय पाप को छोडने का और कोई उपाय नहीं, इस विषयमें अथर्व ४। १७। ५ का निम्न मन्त्र देखिये—

(२) " दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वाः दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥"

अर्थात् (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न आना (दौर्जीवित्यं) दुष्ट जीवन व्यतीत करना (अभ्वं रक्षः) बडा भारी राक्षसीय भाव (अराय्यः) अनैश्वर्य (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (सर्वाः) सब (दुर्वाचः) दुष्ट वाणियां (ताः) उन सब को (अस्मत्) हम सब से (नाशयामसि) नाश करते हैं। " अभ्वं रक्षः " से अभिमान स्वार्थ भाव से मालूम होता है जो राक्षसी प्रकृति के लोगों का विशेष चिन्ह है। जाग्रत् स्वप्न दशा में तथा शरीर मन वाणी के द्वारा किसी भी प्रकारके पाप को न करने का और जो जो पाप हो चुके

हैं उन को भविष्य में न होने देने का निश्चय करना चाहिये यह इस वेद मन्त्र का तात्पर्य है जो निःसन्देह अत्युत्तम है। पहले दिखाया जा चुका है कि मनुष्यके आत्मा के अन्दर दिव्य शक्ति विद्यमान है उस दिव्य शक्ति को प्रयोग में लाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को पाप पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। आलस्य प्रमाद के कारण उत्तम ऐश्वर्य से वंचित रहना भी एक बडा भारी पाप है। मानसिक दुष्ट विचार ही पहले पहले मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराते हैं, अतः जब मन के अन्दर दुष्ट विचारों का उदय हो उसी समय मन को वेदके शब्दों में यों कहना चाहियें।

(३) परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर
गृहेषु गोषु मे मनः॥ अ० ६।४५।१

अर्थात् (पाप मनः) हे पापी मन (परा उपेहि) तू दूर भाग जा। (किम् अशस्तानि शंससि) तू क्यों मुझे बुरी बातों का उपदेश करता है (परेहि) भाग जा दूर भाग जा (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। तू चला जा (वृक्षां वनानि संचर) वृक्ष और वनों के अन्दर जा कर तू संचार कर; यहां तेरे लिये कोई स्थान नहीं (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु) घर के व्यापारों में और (गोषु) गो रक्षादि विषयक विचारों में लगा हुआ है अतः उस में तुझ पाप के प्रवेश का कोई द्वार नहीं है। इस मन्त्र का भाव कितना उत्तम है यह प्रत्येक विचार शील व्यक्ति स्वयं जान सकता है। इस प्रकार दृढ निश्चय के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से पाप से पुण्यमार्ग की ओर आकर अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रत्येक व्यक्ति को यत्न करना चाहिये यह वेद मन्त्रोंका स्पष्ट अभिप्राय है।

सप्तम सिद्धान्त।

(७) सम विकास।

शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियोंका समविकास होना चाहिये यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का अत्यावश्यक सिद्धान्त है। वेद के अनुसार यह समविकास ही उन्नति का मूल मन्त्र है। इस सिद्धान्त को भली भान्ति समझने के लिये निम्न लिखित वेद मन्त्रों का मनन करना चाहिये।

(१) सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्॥
यजु. २। २४

अर्थात् हम सब (वर्चसा सम् अगन्महि) तेज से संयुक्त हों (पयसा सम्) बल दायक दुग्धादिरस से संयुक्त हों (तनुभिः सम्) उत्तम पुष्ट शरीरों से और (शिवेन मनसा) शुभ विचार करने वाले मन से (सम् अगन्महि) संयुक्त हों (सुदत्रः) उत्तम दान शील (त्वष्टा) तेजस्वी पुरुष या प्रजापति परमेश्वर (रायः विदधातु) हमारे अन्दर सब तरह का ऐश्वर्य धारण करे (तन्वः) शरीर की (यद् विलिष्टम्) जो न्यूनता वा दोष है उसे (अनुमार्ष्टु) वह दूर करे अथवा निर्मल बनाए। इस मन्त्र के अन्दर जो यजुर्वेद में थोडे थोडे पाठ भेदसे दो तीन स्थानों पर आया है, शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंके सम विकास का भाव बहुत स्पष्ट है। मनके साथ बुद्धि चित्तादि की शक्तियों के विकास के विषय में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

(२) " मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥
अथर्व. ६। ४१। १

(वयम्) हम सब (मनसे) मन के लिये (चेतसे) चित्त के लिये (धिये) बुद्धि के लिये (आकूतये) शुभ संकल्प के लिये (उत) और (चित्तये) ज्ञान के लिये (मत्यै) मनन के लिये (श्रुताय) श्रवण के लिये (चक्षसे) दर्शनादि शक्तियों के विकास के लिये (हविषा) भक्ति द्वारा (विधेम) भगवान् की आराधना करें। तात्पर्य यह मालूम होता है कि भक्ति इत्यादि के द्वारा मन बुद्धि चित्त इन्द्रिय आदि की संपूर्ण शक्तियों को समान रूप से विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

(३) यजु० १४। १७ भी वेदोक्त समविकास के प्रदर्शन के लिये यहां उध्द्‌त किया जाता है जो इस प्रकार है—

" आयुर्मे पाहि प्राणं पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि
श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पाहि मनो मे जिन्वात्मानंमे
पाहि ज्योतिर्मे यच्छ।"

इस मन्त्र के अन्दर परमेश्वरसे आयु प्राण अपान मन और वाणी आदि के साथ मन और आत्मा की रक्षा तथा तृप्ति वा शक्ति वृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है, जिस का तात्पर्य यही है कि भगवान् की कृपासे हम सब अपनी इन्द्रियों तथा मन आत्मा की सब प्रकारके पापों और दुर्व्यसनों से रक्षा करते हुए उनकी शक्तियों के विकास में समर्थ हो सके, क्यों कि यह बात साफ है कि दुरुपयोग करने से इन्द्रिय मन तथा आत्मा की शक्तियां क्षीण होती हैं।

(४) यजु० ६। १५ का भी इस सम विकास के सम्बन्ध में उपदेश अत्यन्त स्पष्ट है अतः उस का उल्लेख करना आवश्यक

प्रतीत होता है। यह गुरु की शिष्य के प्रति उक्ति मालूम देती है—

" मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त
आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम् ॥

अर्थात् हे शिष्य (ते मनः) तेरा मन (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्त होवे। (ते वाक) तेरी वाणी वृद्धिको प्राप्त होवे।(प्राणः चक्षु: श्रोत्रं ते आप्यायताम्) तेरे प्राणतथा आंख कान आदि इन्द्रियां सब वृद्धि को प्राप्त होवें । अर्थात् मन इन्द्रिय वाणी आदि की शक्तियों का विकास ही शिक्षा का मुख्य एक उद्देश्य है। वेद के इसी मन्त्र को लेकर केनोपनिषत् के प्रारंभ में-

" आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि " इत्यादि मन्त्र की रचना की गई है। इस में मानसिक और शारीरिक बल की साथ साथ वृद्धि का भाव बिलकुल स्पष्ट है। यजु. अ. ३६ के सुप्रसिद्ध मन्त्र-

" यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वातितृण्णम् ।
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु "

इत्यादि में भी चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मन और हृदय सम्बन्धी सब दोषों को दूर कर के उन की शक्तियों को सम रूपसे विकसित करने का भाव पाया जाता है। आत्मा की शक्तियों के विकाश को सम्बंध में पहले कई वेद मंन्त्रों का उल्लेख किया जा चुका है, अत यहां फिर से उस विषयक प्रमाण उपस्थित करने की विशेष आवश्यकता नहीं। निम्न लिखित प्रसिद्ध वेद मन्त्र शारीरिक शक्ति को विकाश के विषय में विशेष रूपसे प्रार्थना करते हुए आत्मा के भी सर्वदा उत्साह पूर्ण रखने का स्पष्ट निर्देश करता है, अतः उसका यहां उल्लेख करना जरूरी है। मन्त्र इस प्रकार है-

" वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे
सर्वा त्मानि भृष्टः ॥ " अथर्व १९।६०।१-२

इस मन्त्र में वाणी, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जंघा, ऊरु, पैर, इत्यादि की शक्तियां सदा स्थिर रहें, मेरे सब अंग नीरोग हों, यह प्रार्थना करते हुए 'आत्मा अनिभृष्टः' ऐसी प्रार्थना की गई है जिस का अर्थ यह है, कि मेरा आत्मा उत्साही बना रहे। आत्मा को सदा उत्साही बना कर रखने से ही उस की शक्तियों का विकाश हो सकता है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, अतः इस की व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। इस तरह शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकाश के लिये दिन रात यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है, यह बात निर्विवाद है।

अष्टम सिद्धान्त।

(८) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध।

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षतामें कुछ व्यापक अटल नियम कार्य कर रहे हैं, और उन को समझकर उन के अनुसार चलने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, यह पहले बताया जा चुका है। इन अटल नियमों की सत्ता सिद्ध करने के लिये-

' अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि ' ऋ, १।२४।१०

तथा "त्वं हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि"

ऋ. २।२८।८

आदि अन्य भी वेद मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु निबन्ध विस्तार के भय से उन को यहां लिखना अनावश्यक है।

यह बात वैदिक भाव को समझने के लिये अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिये कि, ये नियम व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में समान रूप से कार्य कर रहे हैं। उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति को किये हुए अच्छे वा बुरे कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य ही मिलता है, उसी प्रकार समाज और राष्ट्र को भी अच्छे बुरे कार्यों का परिणाम अवश्य ही भोगना पडता है। जब ये सामाजिक और राष्ट्रीय पाप बहुत बढ जाते हैं,अर्थात् जब लोग मोह मायामें फँस कर स्वार्थ साधन में दिन रात तत्पर हो जाते हैं, और धन मान के मद से मस्त हो कर, दीनों की सहायता तथा पतित जनोद्धार रूपी कर्तव्य के पालन से भी मुँह मोड बैठते हैं, तो उस समय प्रायः भयङ्कर व्यापी रोग भूकम्प जलपूर (बाढ) आदि के रूप में भगवान् की ओर से उन्हीं अपने राष्ट्रीय पापों का पुरस्कार मिलता है, ता कि मनुष्य सावधान हो कर पुनः धर्म मार्ग पर चलने का निश्चय कर लें। इसी प्रकार—

"सत्यमेव जयते नानृतम्"

इत्यादि उपनिषदों में प्रकाशित विश्व व्यापक नियम व्यक्ति समाज राष्ट्र तीनों पर समान रुपसे लागू हैं। ऐसे ही अन्य नियमों को समझना चाहिये। इस प्रकार अटल विश्वव्यापक नियमों को समझने से व्यक्ति समाज और राष्ट्र तीनों अपने को सब तरहके पापों दुर्व्यसनों और अत्याचारों से बचा सकते हैं। व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है। समाज की सेवा करना यही व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है। उस सेवा के योग्य अपने को बनाने के लिये शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियों का विकास प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये। यह समझना कि वैदिक आदर्श अथवा उपनिषदादि प्राचीन ग्रन्थों में एक

व्यक्ति के लिये वर्णित आदर्श केवल अपनी ही उन्नति अथवा वैयक्तिक शान्ति सम्पादन करना है, यह बडी भूल है। केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष लाभ होता है और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये क्यों कि अच्छे बुरे सभी कर्म बन्धन में डालने वाले हैं, यह भाव जो मायावाद वा नवीन वेदान्त के ग्रन्थों में पाया जाता है, वस्तुतः अवैदिक है। भगवद्गीता का अभिप्राय इस विषय में स्पष्ट है कि—

" सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षु लोकसंग्रहम् ॥ "

भ. अ. ३ । २५

अर्थात् अज्ञानी पुरुष आसक्ति पूर्वक जैसे कार्य करते हैं, वैसे ज्ञानी को निष्काम भाव से केवल लोकसंग्रह अर्थात् लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये कार्य अवश्य ही करने चाहिये। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी की दशा का वर्णन करते हुए अनेक स्थानों पर ' क्रियावान् ' यह उस का विशेषण आया है तथा मुण्डकोपनिषत् में—

" आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः । "
" क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः । "

इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं, जो स्पष्ट इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब कर्मों का परित्याग, करके जंगल में समाधि लगा कर बैठ जाना यही वैदिक आदर्श नहीं। समदृष्टि को धारण करते हुए समाज सेवा अथवा लोकोपकार करना यह प्रत्येक ज्ञानी का कर्तव्य है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये भगवद् गीता में—

" लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ " भ. गी. अ. ५ । २५

इत्यादि अनेक श्लोक कहे गये हैं। अब इस विषय में वेदके अभिप्राय को देखना है। निम्न लिखित मन्त्र इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं--

(१) प्र सुमेधा गातुविद् विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्। भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः॥

ऋ. ९। ९२। ३.

अर्थात् (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (गातु वित्) भूमि वा देश की अवस्था को जानने वाला (विश्वदेवः) सब से प्रसन्नता पूर्वक व्यहार करने वाला (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (पुनानः) अपने सङ्गसे सबको पवित्र करता हुआ (नित्यम्) सदा (सदःप्र-एति) सभामें आता है। यह (धीरः) धैर्य युक्त पुरुष (विश्वेषु काव्येषु) सब काव्यों में (रन्ता भुवद) रमण करने वाला होता है, अर्थात् सब उत्तम ग्रन्थों का अच्छी प्रकार वह स्वाध्याय करता है। सब कवियों की बातों को ध्यान से विचारता है और फिर (पञ्च जनान् अनु) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद इन पांचों प्रकार के लोगों से बने हुए मनुष्य समाज के हित के लिये (यतते) यत्न करता है। गातु शब्द का पृथिवी यह अर्थ निघण्टु में दिया ही है, विश्व देव शब्द में दिव् धातु का व्यवहार अथवा मोद यह अर्थ ले कर सब प्रसन्नता पूर्वक व्यवहार करने वाला यह अर्थ सर्वथा सम्भव है। इस लिये सारे मंत्रका अभिप्राय यह होगा कि, प्रत्येक बुद्धिमान् का यह कर्तव्य है कि वह अपने देशकी यथार्थ अवस्था को जान कर, सब विचारकों तथा ज्ञानियों के ग्रंथों को पढ कर धैर्य पूर्वक सारे मनुष्य समाज के हित के लिये प्रयत्न करे और इस उद्देश्य से सभा समितियों की योजना करे, ता कि दृढ संगठन

हो कर समाज का कल्याण हो सके। यह मंत्र बड़े ही गम्भीर और महत्व पूर्ण भाव को लिये हुए है।

(२) यजु. के अन्तिम अध्याय में-

" अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। "

इस वाक्य के द्वारा असम्भूति अर्थात् केवल वैयक्तिक उन्नति में सन्तुष्ट रहकर परोपकारार्थ कार्य न करने वालों की स्पष्ट हीन गति बताई है, जिस से साफ भाव निकलता है कि, केवल वैयक्तिक उन्नति से सन्तुष्ट होना वैदिक आशय के प्रतिकूल है।

(३) अथर्व. ११ वें काण्ड के पञ्चम सूक्त में जो ब्रह्मचर्य सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है प्रायः सब के सब मंत्र इस भाव की पुष्टि करने वाले हैं कि ब्रह्मचर्य तप इत्यादि के द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित करके लोकोपकार में अपने को समर्पित कर देना चाहिये। उदाहरणार्थ मं.१ में कहा है।-

" स दाधार पृथिवीं दिवं च "

वह ब्रह्मचारी द्युलोक और पृथिवी लोक का धारण करता है। मं. ४ में कहा है--

"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। "

अर्थात् ब्रह्मचारी अपनी (समिधा) दीप्ति वा तेज से मेखला श्रम और तप के द्वारा (लोकान् पिपर्ति) सब लोकों को तृप्त करता है अथवा लोक का उद्धार करता है। मं. ५ में फिर कहा है--

" स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ "

अर्थात् वह ब्रह्मचारी व्रत समाप्ति के अनन्तर एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक जाता है, अथवा देश देशान्तर में भ्रमण करता

है और (लोकान् संगृह्य) लोक संग्रह कर के अर्थात् लोगों को सन्मार्ग पर लाकर (मुहुः) फिर भी बार बार (आचरिक्रत्) शुभ कार्य करता रहता है। इस मंत्र में आये हुए " लोकान् संगृह्य मुहुराचरिक्रत् " इन शब्दों की गीता के पूर्वोद्धृत लोकसंग्रह विषयक श्लोकके साथ तुलना करनी चाहिये। नं. २२-

" पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् । "

इत्यादि मन्त्रों के अन्दर भी ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति संचय करके प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति परमेश्वर के पुत्र सब मनुष्य मात्र के कल्याण और रक्षा के लिये यत्न करना प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है, यह भाव स्पष्ट तौर पर सूचित होता है।

(४) ऋषि मुनि लोगों को भी योग साधनादि द्वारा अपने अन्दर दिव्य शक्ति सम्पादन करते हुए जनता में राष्ट्रीय भावों की वृद्धि तथा अन्य शुभ भावों के प्रचार के लिये अपने जीवन को लगा देना चाहिये यह आशय अथर्व १९।४१ के सुप्रसिद्ध मंत्र-

" भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥"

के अन्दर प्रकट किया गया है। मंत्र का सीधा अर्थ यह है कि (भद्रमिच्छन्तः) सुख और कल्याणकी इच्छा करते हुए (स्वर्विदः) सुख के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले (ऋषयः) ऋषि लोगों ने (अग्रे) पहले (तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः) तप और दीक्षा का अनुष्ठान किया। (ततः) उस तप और दीक्षा करने के पश्चात् (राष्ट्रं) राष्ट्रीयता भाव (बलम्) बल और (ओजः) सामर्थ्य (जातम्) प्रकट हुआ (तत्) इस लिये

(देवाः) विद्वान लोग (अस्मै) इस राष्ट्रीयता के भाव के लिये (उपसंनमन्तु) सिर झुकायें, अर्थात् इस भाव का सत्कार करें। तात्पर्य यह है कि ऋषि लोग जो तप दीक्षादि अथवा योग साधन करते हैं, वह स्वयं उद्देश्य नहीं किन्तु दिव्य शक्ति सम्पादन करने का साधन है, जिस को राष्ट्र तथा जगत् के कल्याण के लिये उपयोग करना चाहिये। इस विषय में यहां इतनाही कथन पर्याप्त है, क्यों कि सामाजिक कर्तव्यों का आगे संक्षेप से विवरण किया जा जायगा। इतने वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई कि, व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य अपनी शक्तियों को विकसित करते हुए समाज सेवा तथा लोकोपकार के लिये लगा देना यही वैदिक भाव है।
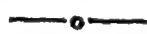
नवम सिद्धांत।

(१) स्वतन्त्रता संरक्षण।

मनु भगवान् ने अपने धर्मशास्त्र में सुख दुःख का लक्षण करते हुए कहा है कि–

> "सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।
> एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥"

जिस का अर्थ यह है कि पराधीनता दुःख है और स्वतन्त्रता सुख है। व्यक्ति के शरीरमें जब सब इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, आदि आत्माके वशमें रहते हैं, तभी स्थिर सुख और शान्तिका अनुभव उसे होता है। जब इन्द्रियां इस शरीर पर अधिकार जमा लेती हैं, जब शरीर रथका अधिष्ठाता आत्मा और बुद्धि रूपी सारथि, इन्द्रिय रूप घोडोंके पीछे पीछे चलने लगते हैं, तब मनकी लगाम को छुड़वा कर इन्द्रिय अश्व आत्माको गढे में जा कर

गिरा देते हैं, जहां से उसका फिर निकलना तक कठिन हो जाता है। यही पर अर्थात् इन्द्रियोंकी अधीनता ही सब आपत्तियोंका मूल है। इन्द्र (जीवात्मा) के अपने दास इन इन्द्रियों के गुलाम बनते ही मनुष्य पर आपत्तियोंका पहाड टूट पडता है, अतः अपनी स्वाधीनता का संरक्षण करना सुखकी प्राप्तिके लिये अत्यावश्यक है। 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' इत्यादि भगवद्गीता के वाक्यों से पराधीनताका उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। मनुस्मृति में-

" सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति॥ "

इत्यादि श्लोकोंमें स्वराज्य शब्दका उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस लिये वेदके अन्दर जहां स्वराज्य शब्द आया है और उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ऐसा उपदेश किया गया है, वहां आध्यात्मिक और बाह्य दोनों अर्थोंमें उसका ग्रहण करना चाहिये। उदाहरणार्थ-

"व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये"

ऋ. ५। ६६। ६

इस मंत्र में (व्यचिष्ठे) व्यापक उदारता के भावसे युक्त (बहुपाय्ये) बहुतसे पुरुष मिलकर जिसकी रक्षा कर सकते हैं, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये (यतेमहि) हम सब यत्न करें, यह आधिभौतिक अथवा बाह्य अर्थमें स्वराज्य शब्दका अर्थ ले कर भाव निकलता है। आध्यात्मिक अर्थमें " बहुपाय्ये " का अर्थ बहुभिः पाय्ये के स्थानमें बहु अत्यन्त पाय्ये रक्षणीये ऐसा समास बदल कर अत्यन्त रक्षणीय आत्मिक स्वतंत्रताकी प्राप्तीके लिये हम सब प्रयत्न करें, यह अभिप्राय हो सकता है। वेद इन स्वतंत्रता के भावोंसे भरा हुआ है। वेदके अनुसार अपनी स्वतं-

त्रताकी रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति और समाज को अवश्यही यत्न करना चाहिये। निम्न लिखित मंत्रोंका इस दृष्टिसे मनन करना चाहिये।–

(१)

" यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखं जहि स संपिष्टो अपायति ॥अथर्व ६।६।२

अर्थात् (सोम) ऐश्वर्य युक्त (षुञ्-प्रसवैश्वर्ययोः) राजन् अथवा परमेश्वर (यः) जो (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला पुरुष (सुशंसिनः नः) अच्छे भाव युक्त हम सज्जनों को (अदिदेशति) अपने आदेशमें या आधीनतामें रखना चाहता है (अस्य मुखम्) इस नीचके मुखको (वज्रेण जहि) वज्रसे काट डालो (सः) वह नीच (संपिष्टः) चूर चूर हो कर (अपायति) नष्ट हो जाए। यहां यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि दुःशंसः यह एक वचन है ' सुंशसिनः ' बहु वचन है। जो एक नीच पुरुष सज्जनों पर हकूमत चलाना चाहता है, सज्जनोंका कर्तव्य है कि राजा की सहायता से उसका नाश कर दें ता कि उसकी स्वतंत्रता बनी रहे।

(२) ऋ. २।२३।१० में—

" मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत
प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥ "

यह मंत्र आया है जो पूर्वोक्त भाव का ही द्योतक है। (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला (अभिदिप्सुः) लोभी पुरुष (नः) हमारे ऊपर (मा ईशत) कभी शासन न करे, (सुशंसः) अच्छे भावोंसे युक्त हम (मतिभिः) अपनी बुद्धि से (प्र तारिषीमहि) सब दुखों से तर जाएं। यहां भी वही स्वतन्त्रता का भाव साफ जाहिर होता है।

(३) ऋ. ९ । ६७ । १३-१४ में आदित्य ब्रह्मचारियों से जो प्रार्थना की गई है वह भी इस विषय में देखने योग्य है यथा ।-

" यो मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः ।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥ १३ ॥
ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत ।
स्तेनं बद्धमिवादिते ॥ १४ ॥"

(ये आदित्यासः) जो आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (क्षितीनां मूर्धानः) मनुष्यों के शिरोमणि (अदब्धासः) किसी से न दबने वाले (स्वयशसः) यशस्वी (अद्रुहः) द्रोह रहित हो कर (व्रता रक्षन्ते) शुभ कर्मों का संरक्षण करते हैं (ते) वे सब तेजस्वी पुरुष (नः) हम सब को (वृकाणाम्) पापियों के (आस्नः) मुख से (मुमोचत) छुडाएं । इन मन्त्रों पर विचार करने से मालूम होता है कि यह भी आध्यात्मिक आधिभौतिक अथवा आन्तरिक बाह्य दोनों प्रकार के बन्धनों से छुडाने की प्रार्थना है । क्षितिका अर्थ निघण्टु में मनुष्य दिया ही है । वृक के अर्थ पाप और पापी दोनों ही हो सकते हैं ।

(४) अथर्व वेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त के निम्न लिखित मन्त्र का उल्लेख करना भी यहां अत्यावश्यक जान पडता है—

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वारि ॥ अ' १२ । १ । १४

अर्थात् (पृथिवि) हे मातृभूमे (यः) जो पुरुष (नः) हमारे साथ (द्वेषत्) द्वेष करता है (यः) जो (पृतन्यात्) सेना ले कर हमारे ऊपर हमला करता है (यः मनसा अभिदासात्) जो मन से हमें दास बनाने का विचार करता है (यो वधेन) जो शस्त्र के द्वारा हमारा वध करना चाहता है (तं) उस पुरुष को (नः)

हमारे लिये अर्थात् हम सब सज्जनों के हित के लिये (रन्धय) नाश कर दो। तात्पर्य यह है कि सब मातृ भूमि के भक्तों को अपनी स्वतन्त्रता का संरक्षण करना चाहिये कभी अपने को दासता में नहीं पडने देना चाहिये। किसी भी पुरुष की दासता में रहना अनुचित है; चाहे वह अपने देशका हो वा दूसरे का, चाहे वह अपना हो वा पराया, इस भाव को अथर्व ६। ५४। ३ में देखिये कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

(५) सबन्धुश्चासबन्धुश्च, यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥

अर्थात् हे इन्द्रशक्ति शाली पुरुष (सबन्धुश्च) अपने कुल का आदमी (असबंधुश्च) अथवा दूसरा कोई भी पुरुष (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) दास बनाता है (तं सर्वं) उस सबको (सुन्वते यजमानाय मे) अग्निहोत्रादि शुभ कर्म करने वाले मेरे कल्याणके लिये (रन्धयासि) तू नष्ट कर दे। इसप्रकार स्वतन्त्र हो कर विचरण करने का भाव यहां स्पष्ट पाया जाता है।

(६) यजु. अ. ८। ४४ में भी बड़े जोरदार शब्दों में इसी स्वतन्त्रता के भाव का प्रकाश किया गया है यथा—

"वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥"

इस का अर्थ यह है कि हे (इन्द्र) शत्रु निवारक वीर पुरुष! (नः) हमारे (मृधः) हिंसक नीच शत्रुओं को (वि जहि) नष्ट कर दो (पृतन्यतः) जो सेना लेकर हमारे ऊपर आक्रमण

करना चाहते हैं, उन को (नीचा यच्छ) नीचे गिरा दो, (यः) जो नीच पुरुष (अस्मान्) हमें (अभिदासति) दास बनाता वा बनाना चाहता है उसे (अधरं तमः गमय) अन्धकार के अन्दर गिरा दो अर्थात् सज्जनों को जो पुरुष गुलामी में रखना चाहता है, वीर पुरुषों का कर्तव्य है, कि उस का मिल कर नाश कर दें।

इस प्रकार के वेद मन्त्रों को पढते हुए यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि वेद में सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने और किसी से द्रोह न करनेका स्पष्ट उपदेश है तथापि उसका अभिप्राय यह नहीं कि नीच पुरुषों को सज्जनों पर मन माना अत्याचार करने देना चाहिये। वैदिक धर्म के उपदेश अत्यन्त ओजस्वी हैं। वेद में सर्वत्र अदीनता और स्वाधीनता के भावों को ही प्रधानता दी गई है, इस लिये मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वाधीनता को जो जबर्दस्ती हरण करना चाहते हैं, ऐसे नीच लोगों का मुकाबला करना समाज के हित के लिये आवश्यक ही है। पूर्वोक्त अहिंसा तत्त्व और इस स्वाधीनता के भाव में कोई विरोध वस्तुतः नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में कुछ समय के लिये जरूर मालूम देता है। निःसन्देह ईसाई मत और बौद्ध मत से वैदिक धर्म की शिक्षाएं इस विषय में बहुत भिन्न हैं, इस भेद का आगे संक्षेप से विचार किया जाएगा। यहां इस बात का निर्देश करना ही पर्याप्त है।

दशम सिद्धान्त।

(१०) "कर्तव्य निर्णय।"

कर्तव्य का निर्णय किस प्रकार किया जाए, यह कर्तव्य शास्त्र का एक अत्यन्त आवश्यक और जटिल प्रश्न है। बहुत से पाश्चात्य विचारक केवल अन्तःकरण की साक्षि को ही पर्याप्त समझते हैं, किन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि केवल अन्तःकरण की साक्षि कर्तव्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ है। जब अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो तो सम्भव है कि इस की साक्षि पर पूर्ण विश्वास किया जा सके किन्तु ऐसी अवस्था को पैदा करना और पता लगाना तक कठिन है इस लिये आप्त प्रामाणिक पुरुषों के वचनों पर विश्वास रखना पूर्वीय विचारकों के अनुसार सर्वथा आवश्यक है। केवल अंतःकरण पर विश्वास करना इस लिये भी कठिन है कि इस का आधार बहुत कुछ देश काल रीति रिवाजों तथा पूर्व संस्कारों पर है। इस विषय में जर्मनी के दार्शनिक शिरोमणि काण्ट ने जेम्समार्टिनो इत्यादि सदसद्विवेकबुद्धि को ही कर्तव्य निर्णायक माननेवाले विचारकों की आलोचना में जो कुछ लिखा है उस में से एक वाक्य उद्धृत करना अप्रासङ्गिक न होगा।

"Feelings which naturally differ in degree cannot furnish a uniform standard of good and evil nor has any one a right to form judgments for others by his own feelings."

Metaphysics of morals p. 61.)

इस का भाव यह है कि अन्तःकरण के भाव पाप पुण्य या अच्छे बुरे का फैसला करने में सर्व सम्मत प्रमाण नहीं हो सकते क्यों कि वे व्यक्ति भेदसे भिन्न भिन्न होते हैं और एक पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने भाव के आधार पर सब किसी के लिये कर्तव्य का फैसला कर दे। इस विषय पर यहां विवाद न करते हुए इतना ही कथन पर्याप्त है कि परमेश्वर ने पिता के रूप में सृष्टिके प्रारम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये पाप पुण्य कर्तव्याकर्तव्य का सब उपदेश वेद के द्वारा किया यह आर्यों का विश्वास चला आया है, जो बडा युक्ति युक्त मालूम होता है। जिस प्रकार किसी संस्था के चलाने से पूर्व नियम बनाना आवश्यक होता है और किसी प्रकार का कारखाना वगैरह चलाने के लिये भी पहले उस के नियम इत्यादि स्थिर कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार परम पिता परमेश्वर ने इस संसार रूपी एक बडी विस्तृत संस्था की स्थापना करते हुए यदि कर्तव्याकर्तव्य निर्णायक तत्त्वों का उपदेश हमें न किया होता, तो हम अपने पापों के लिये कभी भी जिम्मेवार न ठहरते। इस लिये वेद के द्वारा भगवान् ने धर्माधर्म का मनुष्य मात्र को उपदेश कर रखा है, यही विश्वास हमें संगत प्रतीत होता है। स्वयं वेद के अन्दर परमेश्वर को कवि (सर्वज्ञ) नाम से पुकारते हुए वेद को उस का काव्य कहा है-

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"

अथर्व १०। ८। ३२

ऋ. १०।७१ में जिसे ज्ञान सूक्त के नाम से कहा जाता है इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेद के विना धर्म का यथार्थ ज्ञान अत्यन्त कठिन है। इस सूक्त का छटा मन्त्र इस प्रकार है---

"यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य
वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं
शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
ऋ० १० । ७१ । ६

अर्थात् (यः) जो पुरुष (सचिविदं सखायम्) अपने साथ सम्बद्ध सब पदार्थों का ज्ञान कराने वाले वेद रूपी मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है (तस्य) उस की (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः) भजनीय अंश अथवा तत्त्व (न अस्ति) नहीं रहता (यत् ईं शृणोति) वह जो कुछ भी सुनता है (अलकं शृणोति) व्यर्थ सुनता है (सुकृतस्य पन्थाम्) पुण्य धर्म मार्ग को वह (नहि प्रवेद) नहीं जानता। इस मन्त्रमें 'सचिविदं सखायं' में बहुत सम्भवतः वेद का ही निर्देश किया गया है यद्यपि पूर्ण निश्चय के साथ इस बात को कहना कठिन है। वेद के बिना धर्म मार्ग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता यह भाव इस वेद मन्त्र में सूचित किया गया मालूम होता है। यजु. अ. ४० म० ८ में भी—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥"

इन शब्दों द्वारा सर्वज्ञ, सर्व व्यापक परमेश्वर ने यथार्थ प्रवाह से अनादि जगत् के पदार्थों का यथार्थ उपदेश किया यह अर्थ अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वेदमें पवित्र अन्तःकरण की साक्षि और सदाचार को भी कर्तव्य निर्णय में सहायक अवश्य माना गया है, इस बात को दिखाने के लिये यजु० अ० १९ का ७७ वां मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है जो इस प्रकार है—

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

अर्थात् (सत्यानृते रूपे) सत्य और असत्य रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थों को (दृष्ट्वा) देख कर (प्रजापतिः) परमेश्वर ने (व्याकरोत्) एक दूसरे से उन को भिन्न कर दिया, किस प्रकार (अनृते) असत्य में उस ने मनुष्य के पवित्र अन्तःकरण में (अश्रद्धाम् अदधात्) अश्रद्धा और अरुचि को स्थापित किया और (सत्ये श्रद्धाम् अदधात्) सत्य के अन्दर उस ने स्वभावतः श्रद्धा को रखा। इस मन्त्र के अन्दर सत्यासत्य का विभाग करना अत्यन्त कठिन है तथापि भगवान् ने मनुष्यों के हित के लिये उनके अन्तःकरण में स्वभावतः सत्य के लिये श्रद्धा और असत्य के लिये घृणा का भाव रख दिया है यह आशय प्रकट किया गया है। इस स्वाभाविक प्रकृति को मनुष्य अपने पापों और निर्बलताओं द्वारा विगाड देता है फिर अन्तःकरण की निर्मलता स्थिर न रहने से उस की साक्षि पर प्रत्येक अवस्था में विश्वास करना असम्भव हो जाता है। तो भी कुछ अंशतक वह अतःकरण की साक्षि कर्तव्य के जानने में हमें सहायता देती है इस में सन्देह नहीं। सदाचार भी कर्तव्य के निर्णय करने में कुछ अंश तक सहायक है। इस विषय में वेदमें से प्रमाण उद्धृत करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि नीचे ऋग्वेद से एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है जिस में विद्वानों को अपनेसे पूर्व के ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का आदेश किया गया है। यह मन्त्र सामाजिक उन्नति के तत्वों का वडी उत्तम रीति से वर्णन करता है--

हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः।"

ऋ. ३।८।९

अर्थात् (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः यतानाः) संघ बना कर उद्देश सिद्धि के लिये यत्न करते हुए (शुक्राः वसानाः) शुद्ध वस्त्रों अथवा वीर्य को धारण करते हुए (स्वरवः) विद्या प्रकाशक शब्द युक्त हो कर ज्ञानी (नः आगुः) हमें प्राप्त होवें। (कविभिः) दूरदर्शी ज्ञानियों द्वारा (पुरस्तात्) आगे आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति के मार्गकी ओर लिये जाते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अपि) भी (देवानाम्) अपने से उच्च कोटि के अनुभवी ज्ञानियों के (पाथः) मार्ग पर (यन्ति) चलते हैं। इस मन्त्र में जो संगठन सत्सङ्गति आदि सामाजिक उन्नति के तत्त्व बताए गये हैं उनका अच्छी प्रकार मनन करना चाहिये। यहां--

" देवा देवानामपि यन्ति पाथः "

इन शब्दों द्वारा दूरदर्शी ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का जो उपदेश किया गया है उस की ओर ही ध्यान आकर्षित करना था, क्यों कि उस का अभिप्राय ' सदाचार ' नाम से मनुस्मृत्यादि में जो धर्म का निर्णायक प्रमाण माना गया है उस के साथ मिलता जुलता है। अब ११ वें सिद्धांत की व्याख्या की जाएगी जो सत्य के सम्बन्ध में है।

एकादशवाँ सिद्धांत।

(११)" सत्य महिमा।"

कर्तव्य शास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों में सत्यका बड़ा ऊंचा स्थान है। इसी सत्य की महिमा को बताते हुए मनु महाराज ने—

'नास्ति सत्यात्परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम्।'

इत्यादि वचन कहे हैं। वेद के अन्दर सत्य के विषय में जो अत्युत्तम उपदेश आए हैं उन का यहां दिग्दर्शन कराया जाता है, ता कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में सत्य को उचित स्थान नहीं दिया गया ऐसा विचार जो कुछ पाश्चात्य विचारकों ने प्रकट किया है उस की असत्यता प्रकट हो जाए।

(१) सबसे प्रथम ऋ. १०।८५ के प्रथम मन्त्र का उल्लेख करना है, जिस में सत्य को पृथिवी का आधार बताया गया है यथा—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

अर्थात् जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य रूपसे सूर्य द्वारा हो रहा है वैसेही वास्तविक रूप से इस भूमिका धारण सत्य के ही आश्रय से हो रहा है। सत्य यदि दुनिया से निकाल दिया जाए तो कोई किसी पर विश्वास न करे और इस प्रकार कोई भी व्यवहार न चल सके अतः यह बात स्पष्ट है कि सत्य पर ही भूमि का आधार है।

(२) अथर्व १२। १ के प्रथम मन्त्र में भी इसी आशय को प्रकट करते हुए पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थों में सबसे प्रथम सत्य का वर्णन किया है यथा—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति॥

अर्थात् (सत्यं) सत्य (वृहद् ऋतम्) विस्तृत ज्ञान (उग्रम्) क्षात्रतेज (तपः) धर्म मार्ग में आने वाली आपत्तियों को प्रसन्नताले सहन करना (ब्रह्म) धन वा अन्न और (यज्ञः) देवपूजा संगति-करण दान अथवा स्वार्थ-त्याग ये सब (पृथिवीं धारयन्ति) मातृ भूमिका संरक्षण करते हैं। जो लोग राज नैतिक उद्देश्य की सिद्धि अथवा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये छल, कपट, असत्य आदि का भी अवलम्बन कर लेना चाहिये ऐसा कहते हैं, उन्हें इस मन्त्र का विशेष रीति से मनन करना चाहिये।

(३) यजुर्वेद अ १। ५ में

" इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि "

इन शब्दों द्वारा असत्य का परि त्याग कर के सत्य के मार्ग पर चलने का व्रत ग्रहण करना चाहिये यह भाव सूचित किया गया है (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य से (इदं सत्यम्) इस सत्य के मार्ग को (उपैमि) प्राप्त करता हूं, यह मन्त्रखण्ड का शब्दार्थ है। विद्वान् पुरुष को सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने को उद्यत रहना चाहिये, इस बात को देखिये वेद कितने स्पष्ट और उत्तम शब्दों में बताता है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

ऋ. ७। १०४। १२

अर्थात् (सुविज्ञानं) उत्तम ज्ञान को (चिकितुषे) प्राप्त करने वाले (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च असत् च वचसी) सत्य और असत्य वचन अथवा अच्छे बुरे वचन (पस्पृधाते) एक दूसरे का मुक़ाबला करते हैं अथवा जो पुरुष सच्चा ज्ञान सम्पादन करना चाहता है उस की परीक्षाके लिये सत्यासत्य वचन उस के सामने आते हैं (तयोः) उन दोनों में से (यतरद्) जो

(सत्यं) सच और (यतरद्) जो एक (ऋजीयः) ऋजु अथवा सरल वचन है (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (तत् इत् अवति) उस की ही रक्षा करता है (असत्) जो हीन वा असत्य वचन है उस को (आ हन्ति) सर्वथा नाश कर डालता है। शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऋषि दयानन्द ने मालूम होता है इसी मन्त्र के शब्दों को लेकर आर्य समाजके चतुर्थ नियम की रचना की थी। इस से अगला मन्त्र भी सत्य की महिमा और असत्य भाषण के बुरे फल को बडी सुन्दरता से प्रकट करता है—

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥
ऋ. ७। १०४। १३.

(सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष वा ऐश्वर्यशाली राजा(वृजिनं) पापी को (न हिनोति) नहीं बढाता-पापीकी सहायता नहीं करता और (मिथुया धारयन्तम्) हिंसा पूर्वक शरीर अथवा ऐश्वर्य को धारण करने वाले (क्षत्रियं) क्षत्रिय को (न हिनोति) वह नहीं बढाता बल्कि (रक्षः हन्ति) नीच राक्षसी वृत्ति वाले पुरुष को वह मार देता है (असद् वदन्तम्)असत्य भाषण करने वाले को (आ हन्ति) बिलकुल नाश कर देता है (उभौ) वे दोनों राक्षस अर्थात् स्वार्थी और असत्य वादी (इन्द्रस्य) परमेश्वर के अथवा ऐश्वर्य शाली राजा के (प्रसितौ) बन्धन में राजपक्ष में कारागृहादि में (शयाते) शयन करते हैं। अभिप्राय यह है कि असत्यवादी को राजा और परमेश्वर की तरफ से कठिन दण्ड मिलता है। राजा से तो पापी अपने को फिर भी बचा सकता है पर सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमेश्वर के बन्धन से कोई पापी अपने को किसी तरह भी नहीं छुडा सकता।

(५) सत्य भाषण का व्रत जिन सज्जनों ने लिया हुआ है वही देव हैं ऐसा शतपथ ब्राह्मणादि में-

'एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति, यत्सत्यम् सत्यं देवाः'

इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। वेद का कथन देखिये इस विषय में कितना साफ है—

"विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
अथर्व १९। ६। १९

अर्थात् (सत्यसन्धान्) सत्य प्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्य को सदा बढाने वाले अथवा सत्य पक्षका समर्थन करनेवाले (विश्वान् देवान्) सब विद्वानों को (इदं ब्रूमः) हम यह बात कहते हैं (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) सब अपनी पत्नियों के साथ (ते) वे ज्ञानी (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चन्तु) छुडाएं। पाप से छुडाने का अभिप्राय उपदेश द्वारा भावी पाप से मुक्त कराने का है यह पहले बताया जा चुका है। इस मन्त्र में देवों का विशेषण-

'सत्यसन्धान् ऋतावृधः'

यह जो दिया है वह बडा महत्व पूर्ण है। ऋग्वेद ७।६६।१३ के-

"ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।"

इस मन्त्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है उस में देवों को सत्य का दृढ पक्षपाती और असत्य का घोर विरोधी बताया है, यह बात यहां फिर स्मरण कर लेनी चाहिये।

(६) जो लोग असत्य भाषण कर के सत्यको दबाना चाहते है, उन के लिये वेद में बडे कठोर शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ ऋ १०। ८७। मं ११ में अग्नि से प्रार्थना है-

"त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति॥"

अर्थात् (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर वा राजन् ! (यः यातुधानः) जो राक्षस (ऋतं) सत्य को (अनृतेन) झूट के द्वारा (हन्ति) नष्ट करता वा दबाता है वह पापी (त्रिः) तीन वार-अनेक वार (ते प्रसितिम्) तेरे बन्धन को (एतु) प्राप्त करे। परमेश्वर और राजा की ओर से असत्य भाषण करने वालों को कठोर दण्ड मिलता है यह मन्त्र का भाव है इस प्रकार असत्य भाषण की निन्द्रा स्पष्ट है। इसी सूक्त के १२ वें मन्त्र में भी अग्नि से -

" अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ "

यह प्रार्थना की गई है जिस का अर्थ यह है कि अपनी दिव्य स्थिर ज्योति से सत्य की हिंसा करने वाले-उल्लंघन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी मूर्ख को (न्योष) नष्टकर दो अथवा दग्ध कर दो। सम्भवतः असत्य वादीके अज्ञान और असत्य भाषण के स्वभाव को अग्नि अर्थात् ज्ञानी नेता अपनी ज्योति वा तेजसे दूर कर दे ऐसा यहां तात्पर्य है, अस्तु।

(७) ऋ. ७। ६०। ५ का निम्न मन्त्र भी इस विषय में विशेष मनन के योग्य है-

" इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥

अर्थात् (इमे) ये (मित्रः अर्यमा वरुणः) सब के साथ प्रीति करने वाले न्यायकारी श्रेष्ट गुण युक्त सज्जन (भूरेः अनृतस्य) बहुत से असत्य के (चेतारः सन्ति) जितलाने वाले हैं, यह असत्य है यह सत्य है इस बातका ये सज्जन जनता को उपदेश करने वाले हैं सत्य भाषण के द्वारा सदा सत्य के व्रत को ग्रहण करते हुए ये सब उन्नति करते हैं और वे (शग्मासः) सुख देने वाले (अदितेः) स्वतन्त्रता प्रिय देवी के (अदब्धाः पुत्राः)

किसी से न दबने वाले पुत्र हैं। इस मन्त्र में सज्जनों के लिये 'अनृतस्य चेतारः' और 'इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे ये' शब्द बड़े महत्त्व पूर्ण हैं।

(८) ऋ. ९। १३। ९में सदा सत्यके अवलम्बन करने का जो उपदेश किया गया है उसका यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा–

"अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।
योनावृतस्य सीदत ॥"

अर्थात् (अराव्णः) अनैश्वर्य और उसके कारणरूप आलस्य प्रमादादि को (अपघ्नन्तः) नाश करते हुए (पवमानाः) पवित्र (स्वर्दृशः) सुख का साक्षात्कार करते हुए–अनुभव ग्रहण करते हुए तुम सब (ऋतस्य योनौ) सत्य के गर्भ में (सीदत) सदा स्थिर रूप से बैठो। आलस्य प्रमाद अनैश्वर्यादि को नाश करना पवित्रता सम्पादन कर के सुख का अनुभव लेना और सत्य के अन्दर स्थिर रूप से प्रतिष्ठित रहना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य इस मन्त्र के अन्दर बताया गया है, जिस के अनुसार चलने से ही सब का कल्याण हो सकता है। यश और श्री के विषय में वेद के उपदेश का आगे उल्लेख किया जाएगा। सत्य विषयक कुछ उपदेशों का यहां व्याख्यान किया गया है, इस सत्य की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व तक का अर्पण कर देना चाहिये इस विषय में एक वेद मन्त्र उद्धृत कर के अगले सिद्धान्त पर विचार करेंगे। वह मन्त्र अथर्व वेद के १२ वें काण्ड के ३ य सूक्त का ४६ वां मन्त्र है—

"सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ॥"

जिस का अर्थ यह है कि (सत्य) सत्य की रक्षा के लिये (तपसे) तप के लिये (देवताभ्यः) ज्ञानियों के हित की वृद्धि के लिये (शेवधिं) सुख का धारण करने वाले (एतम्) इस

(निधिम्) कोश को—सम्पूर्ण द्रव्यराशि को (परिदद्मः) हम देते हैं अर्थात् सत्यादि की रक्षा के लिये अत्यन्त प्रिय धन का परित्याग भी यदि करना पडे तो उसे प्रसन्नतासे करना चाहिये। सत्य भाषण विषयक इतने उत्तम उपदेशों को वेदमें देख कर भी जो कहता है कि वेद के अन्दर जीवन विषयक उच्च तत्त्वोंका वर्णन नहीं है उसे सिवाय पक्ष पाती के और क्या कहा जा सकता है।

---

१२ वाँ सिद्धान्त

" निर्भयता। "

परमेश्वर को सब का रक्षक समझते हुए कभी किसी से भय भीत नहीं होना, यह वैदिक धर्म की अत्यन्त मुख्य शिक्षा है। इस भाव को दिल में अच्छी प्रकार ग्रहण करने के लिये निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार करना चाहिये।

(१) सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥
ऋ॰ १ । ११ । २ ।

अर्थात् (शवसस्पते इन्द्र)हे बल के स्वामी परमेश्वर!(वाजिनः) ज्ञान और बल से युक्त हो कर हम (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (मा भेम)कभी भय भीत न होवें। (जेतारम्)सब का विजय करने वाले (अपराजितम्) कभी किसी से पराजित न होने वाले सर्व शक्तिमान् (त्वाम्) तुझ ईश्वर को (अभि प्रणोनुमः) वार वार हम नस्कार करते हैं। परमेश्वर को सर्व शक्तिमान् मानते हुए जो पुरुष सदा उसकी मित्रता में रहते हैं अथवा उसी को अपना सुख दुःख का साथी जानते हैं, वे नित्य निर्भय हो कर धर्म मार्ग पर

चलते हैं। इसी आशय को अथर्व वेद में निम्न मन्त्र द्वारा प्रकट किया गया है—

(१) पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्व वीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥
अथर्व. ७।९।२

अर्थात् (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर (सर्वा आशाः) सब दिशाओं को (अनु वेद) अच्छी प्रकार जानता है (सः) वह (अस्मान्) हम सब को (अभयतमेन) अत्यन्त निर्भयता के मार्ग से (नेषत्) ले जाए। (स्वस्तिदाः) कल्याण देने वाला (आघृणिः) सब को प्रकाशित करने वाला (सर्व वीरः) सब को प्रेरणा करने वाला (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (प्रजानन्) परमेश्वर को सर्व रक्षक जानने वाला पुरुष (पुरः एतु) आगे जाने वाला हो। प्रथम अर्ध भाग में परमेश्वर और दूसरे में पुरुष का ग्रहण करना ही यहां उचित मालूम देता है। जिस के अनुसार यह अभिप्राय होगा कि परमेश्वर हमें सदा निर्भयता की तरफ ले जाता है और इस प्रकार ईश्वर को सर्व रक्षक समझने वाला पुरुष सब का नेता बनता है।

(२) अथर्व १०।८। में जो कि ब्रह्म विद्या विषयक है अन्तिम मन्त्र निम्न लिखित आया है—

"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम्॥४४॥

इस मन्त्र में आये हुए प्रायःसब विशेषण आत्मा परमात्मा दोनों पर घट सकते हैं, यथा (अकामः) सब कामनाओं से रहित (धीरः) बुद्धि युक्त (अमृतः) अमर (स्वयंभूः) स्वयं सिद्ध (रसेन तृप्तः) आनन्द से पूर्ण (न कुतश्चन ऊनः) किसी

प्रकार भी जिस के आनन्द में कमी नहीं है ऐसा परमेश्वर है और ऐसा ही ज्ञानी आत्मा हो जाता है। (धीरम्) बुद्धि युक्त (अजरम्) वृद्धावस्था वा क्षय से रहित (युवानम्) सदा शक्ति शाली (तम् एव) उसी एक परमेश्वर वा अपने जीवात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (न बिभाय) नहीं डरता।

युवा कहने से अभिप्राय यहां शक्ति शाली का मालूम होता है क्यों कि जरा का विरोधी शब्द यहां रखना अभीष्ट है अथवा परमेश्वर के पक्ष में युवा का परमाणुओं को मिला कर सृष्टि और संहार करने वाला और आत्मा के पक्ष में इन्द्रियादि को विषयों से संयुक्त करने वाला ऐसा अर्थ सम्भव है (यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः) इस धातु से युवा शब्द सिद्ध होने के कारण ऊपर का अर्थ उचित ही है। भावार्थ यह है, कि जो पुरुष परमेश्वर को सर्व व्यापक सर्व रक्षक और अपने आत्मा को वृद्धावस्थादि रहित जानता है वह कभी किसी से नहीं डरता मृत्यु का भी उसे कोई भय नहीं रहता। भगवद्गीता की इस विषयक शिक्षाएं यहां विशेष द्रष्टव्य हैं।

(४) इसी प्रसङ्ग में अथर्व १९।१५ का प्रथम मन्त्र देखिये-

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥
अ. १९।१५।१

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (यतः) जिस जिस दिशा से वा पुरुष से (भयामहे) हम डरते हैं (ततः) उस उस दिशा से (नः) हमें (अभयं कृधि) निर्भय कर (मघवन्) हे ऐश्वर्य शाली प्रभो (तव शग्धि) शक्ति हमें दे (तव ऊतिभिः) अपनी रक्षा से (द्विषः) द्वेष भाव को और (मृधः) हिंसामय भावों को (वि जहि) नष्ट कर दो। इस मन्त्र के अन्दर भी

ईश्वर को सर्व व्यापक सर्वरक्षक समझने से निर्भयता प्राप्त होती है यह भाव स्पष्ट सूचित किया गया है । यही मन्त्र सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ५ अर्ध प्र०२ मं०१५ में भी आया है।

(५) अथर्व वेद के-

" अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ॥ "

इत्यादि १९ । १२ में आये हुए मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं अतः उनका व्याख्यान करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं मालूम देती।

इस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत १२ सिद्धान्तों की सप्रमाण व्याख्या यहां समाप्त होती है । इन्हीं सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये अन्य भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं पर निबन्ध विस्तार के भय से केवल थोडे से प्रमाणों का यहां संग्रह किया गया है । इन पर मनन करने से वैदिक कर्तव्य शास्त्र का महत्त्व समझ में आ सकता है। युरोपियन विद्वानों का यह कथन कि वेद के अन्दर जीवन को उन्नत करने वाले सदाचार सम्बन्धी कोई उत्तम उपदेश नहीं हैं यह कितना पक्षपातपूर्ण और अशुद्ध है इस का इसीसे अनुमान किया जा सकता है। अगले अध्याय में वैदिक कर्तव्यशास्त्र के अनुसार मनुष्य के वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निरूपण किया जाएगा ।

वैदिक-कर्तव्य-शास्त्र।

द्वितीय परिच्छेद।

"वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्य"

प्रथम कर्तव्य

ईश्वर भक्ति

प्रथम अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत सिद्धान्तों की सप्रमाण व्याख्या की गई है; उन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए जो मनुष्यमात्र के वेदोक्त कर्तव्य हैं, उनका संक्षेप से यहां दिग्दर्शन कराना है। सब से प्रथम जगदुत्पादक परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है, इस विषय में कुछ थोड़े से मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक मालूम होता है। वैदिक धर्म में शुद्ध एकेश्वर पूजा की कल्पना नहीं पाई जाती, ऐसा कई महानुभावों का कथन है। यहां इस विषय पर वादविवाद करने की आवश्यकता नहीं। नीचे ईश्वर भक्ति और उस के फल के बारे में जो वेद मन्त्र उद्धृत किये जाएंगे, वे स्वयं उपर्युक्त आक्षेपों की निर्मूलता को प्रमाणित कर देंगे।

(१) ऋ. २। २३। ४ में ईश्वर भक्ति का निम्न लिखित फल बताया गया है—

"सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥"
ऋ. २। २३। ४.

अर्थात् (बृहस्पते) सूर्यादि बडे पदार्थों के स्वामी परमेश्वर! (जनं सुनीतिभिः नयसि) तू मनुष्यों को उत्तम नीति अथवा मार्ग से ले जाता और (त्रायसे) उनकी रक्षा करता है। (यः) जो पुरुष (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) देता है - अपने अपको तेरे प्रति समर्पण करता है (तम्) उस को (अंहः) पाप (न अश्नवत्) नहीं प्राप्त होता। (ब्रह्मद्विषः) ज्ञानियों के साथ द्वेष करने वाले का तू (तपनः) तपाने वाला हो कर (मन्युम्) उचित कोप को (ईरसि) प्रेरित करता है, (तत्) वह (ते) तेरी (महि) वडी भारी (महित्वनम्) महिमा है।

परमेश्वर का न्याय दण्ड दुष्टों का संहार करता है, इतना ही यहां उसके मन्यु दिखलाने से मतलब है। भक्ति करने पर भगवान् पुरुष को सन्मार्ग पर चलाते, उस की रक्षा करते, और उस को सब पापों से बचाते हैं, यह भाव मन्त्र नें स्पष्टतया प्रकट किया गया है। इसी सूक्त का पांचवां मन्त्र देखिये—

(२) न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न
द्वयाविनः। विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं
सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते॥ ऋ. २।२३।५

अर्थात् (सुगोपाः) अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला तू (यम्) जिस मनुष्य की (रक्षसि) रक्षा करता है (तं) उसको (अंहः) पाप (न) नहीं स्पर्श करता (दुरितं) दुःख वा दुर्व्यसन (न) नहीं प्राप्त होते (कुतश्चन) कहीं से भी (अ-रातयः) शत्रु उस विद्वान् पुरुष को (न तितिरुः) नहीं हिंसा करने पाते। (द्वया-विनः) मन में कुछ और बाहर से और कुछ दिखाने वाले कपटी

लोग भी (न) उस धर्मात्मा की हिंसा नहीं कर सकते। (अ-स्मात्) इस धर्मात्मा पुरुष से (विश्वाः) सब (ध्वरसः) भय और हिंसा को (वि बाधसे) तू नष्ट कर देता है। परमात्मा जिस का रक्षक है, उस भक्त को दुनिया में किसी से डर नहीं हो सकता, पाप से वह सदा दूर रहता है, और इस लिये उस पर आपत्तियों का भी असर नहीं होता। वह भक्त पुरुष कभी हीन अवस्था को प्राप्त नहीं होता, यह मन्त्र का मुख्य अभिप्राय है।

(३) इस परमात्मा की भक्ति का न केवल आध्यात्मिक बल्कि लौकिक फल भी बहुत कुछ प्राप्त होता है, इस विषय में ऋग्वेद २। २४। ३ देखिये—

" स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः। देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

अर्थात् (यः) जो पुरुष (श्रद्धामनाः) श्रद्धा युक्त मन वाला हो कर (हविषा) भक्ति से (देवानां पितरम्) सूर्य चन्द्रादि तथा ज्ञानियों के पालक (ब्रह्मणस्पतिम्) परमेश्वर की (आविवासति) पूजा करता है (स इत) वह ही (जनेन) उत्तम मनुष्यों से (स विशा) वह प्रजा से (स जन्मना) वह अपने जन्म से (स पुत्रैः) वह अपने पुत्रोंसे (वाजं) ज्ञान को (भरते) सम्पादन करता है (नृभिः) अपने मनुष्यों के द्वारा वह पुरुष (धना भरते) धन से पूर्ण होता है। इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने से मनुष्यों को अच्छे सहायक मित्रादि प्राप्त होते हैं, जिन के द्वारा उसे ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। दयामयी जगन्माता के प्रति जो अपने को समर्पण कर देते हैं, निश्चय से उन का संसार में कभी अमङ्गल नहीं होसकता। कितना उत्तम अभिप्राय यहां प्रकाशित किया गया है।

(४) परमेश्वर ही नित्य सुख और शान्ति देने वाला है, अतः एक मात्र उसकी उपासना करनी चाहिये, इस बात को ऋ. ८। ६६। १३ में निम्न लिखित शब्दों में प्रकट किया गया है-

"वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता॥ ऋ.५।६६।१३

अर्थात् (वयं) हम सब (घा) निश्चय से (इन्द्र) हे परमेश्वर (ते स्मसि) तेरे हैं और (उ) निश्चय से (विप्राः) ज्ञान सम्पन्न होते हुए (अपि) भी हम सब (त्वे इत् स्मसि) तेरे ही आश्रय में और तेरी ही शरण में हैं (पुरुहूत मघवन्) बहुत से भक्तों द्वारा स्वीकृत ऐश्वर्य युक्त भगवन् (त्वत् अन्यः) तेरे से अतिरिक्त और (कश्चन) कोई भी (मर्डिता) यथार्थ नित्य सुख देने वाला (न अस्ति) नहीं है। भक्त लोगों की परमेश्वरके प्रति यह उक्ति है। सब को भगवान् की ही शरणमें सदा रहना चाहिये, क्यों कि उस को छोड कर वस्तुतः संसार में शाश्वत सुख देने वाला कोई नहीं है। लोग इस तत्व को न समझते हुए दुनियां के पदार्थों में सुख ढूंढना चाहते हैं, पर अन्त में निराश हो कर इसी परिणाम पर पहुंचते हैं, कि दयामय भगवान के अतिरिक्त स्थिर नित्य सुख शान्ति देने वाला और कोई भी नहीं है, इसी आशय से उपनिषदों के अन्दर कहा है-

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वत नेतरेषाम्॥"

अर्थात् आत्मा के अन्दर स्थित सर्वान्तर्यामी भगवान् का जो साक्षात्कार करते हैं उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है अन्य किसी को नहीं।

(५) परमेश्वर ही को अपना पिता माता बन्धु भ्राता और मित्र समझना चाहिये। उसी से भक्ति भाव दृढ होता है, इस

बात को वेद के अनेक मन्त्रों से प्रमाणित किया जा सकता है, किन्तु यहां एक दो मन्त्रों को उद्धृत करके अगले कर्तव्य पर विचार किया जाएगा।

" देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमे अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥
ऋ० १।९४।१३

इस मन्त्रमें परमेश्वरके लिये अद्भुत मित्र शब्दका प्रयोग किया गया है। संसारिक मित्रोंसे एक न एक दिन अवश्य वियोग होता है, किन्तु परमात्मा एक अद्भुत मित्र है जिससे हमारा कभी वियोग नहीं हो सकता पर तो भी जिसे हम नहीं पहचानते। (वसूनां वसुः असि) पृथिव्यादि वसुओं का भी तू आधार भूत है (अध्वरे) सब अहिंसामय कार्यों में तू (चारुः) प्रकाशमान है (तव) तेरी (सप्रथस्तमे) अत्यन्त विस्तृत (शर्मन्) शरण में (स्याम) हम सदा रहें (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (न रिषाम) कभी दुखी नहीं। परमेश्वर सब देवों का अधिष्ठाता और हमारा अद्भुत सहायक और हमारा अद्भुत मित्र है, शुभ कर्मों के द्वारा उसका प्रकाश होता है। उस को जो मित्र समझते हुए शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हें कभी कोई क्लेश नहीं होता, यह इस मन्त्रका अभिप्राय है।

"श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद् देवानामवो अद्यावृणीमहे।"

इत्यादि मन्त्रों में भी इसी प्रकार परमेश्वर की श्रेष्ठ शरण में सदा रहने की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर की शरण अत्यन्त विस्तृत है, इस का तात्पर्य यह है कि, उस के अन्दर सब जाति देश और वर्ण के पुरुष को बैठने का समान अधिकार है। वहां काले गोरे का और ब्राह्मण चाण्डाल का कोई भेद नहीं। पापी से

पापी भी परमेश्वर की शरण में आ कर अपने जीवन को पवित्र बना कर तर गये और अब भी तर सकते हैं।

(६) ऋ. १० । ७ । ३ में—

"अग्नि मन्ये पितरमग्निमापिमग्नि भ्रातरं सदमित्सखायम् ।"

ऐसा मन्त्र आया है जिस में ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को मैं अपना पिता (आपिः) आप्त गुरु, भ्राता (सदम्) शरण देने वाला और (सखायम्) मित्र (मन्ये) मानता हूं ऐसा एक भक्त के मुख से कहलाया गया है । वस्तुतः जब तक परमेश्वर ही को अपना सब कुछ न मान लिया जाए, तब तक पूर्ण भक्ति का आनन्द रूपी अमृत मधुर फल प्राप्त नहीं हो सकता ।

(७) साम उत्तरार्चिक अ. २ प्र. ४ में प्रसिद्ध—

"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।

यह मन्त्र आया है जिस में परमेश्वर को ही पिता माता बताते हुए उसी से सुख प्रार्थना करनी चाहिये, यह भाव सूचित किया गया है । इस प्रकार परमेश्वर के प्रति व्यक्ति का जो कर्तव्य है उस की इन मंत्रों द्वारा सूचना मिलती है । परमेश्वर को किसी समय भी न भूलना चाहिये क्यों कि उस को भूलना अथवा उस से विमुख होना यही वस्तुतः मृत्यु है यह भाव—

'यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'

इत्यादि मन्त्रोंका है अब इस विषयमें साम वेदका एक अत्युत्तम मन्त्र उद्धृत कर के दूसरे कर्तव्य पर विचार करेंगे वह मन्त्र इस प्रकार है—

" मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः सधमाद्ये ।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥ "

साम. पू. ३ । ७ । ५

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (नः) हमें (न) नहीं (परावृणक्) परित्याग कर-हमारा परित्याग न कर अथवा हम तेरा परित्याग न करें; इन दोनों का काव्य की दृष्टि से एक ही आशय है। (नः) हमारे (सधमाद्ये) सदा आनन्द के लिये (भव) हो। (त्वं नः ऊती) तू हमारी रक्षा करने वाला है (त्वम् इत्) तू ही (नः) हमारे लिये (आप्यम्) प्राप्त करने योग्य है। तेरे अतिरिक्त संसार में प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, क्यों कि तुझे प्राप्त कर लेने और जान लेने पर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है। (इन्द्र न मा परावृणक्) परमात्मन् हमारा परित्याग न करो, हमारा कभी परित्याग न करो। यह भक्त की सच्चे दिल से निकली हुई एक प्रार्थना है, जो परमेश्वर को ही अपना रक्षक, प्राप्तव्य मित्र और सब कुछ समझना चाहिये, इस भाव को लिये हुए है। केनोपनिषद् के शान्ति मन्त्र में इसी वेद मन्त्र के भाव को लेकर सम्भवतः-

> "माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणं
> मे अस्त्वनिराकरणं मे अस्तु ॥"

ये शब्द आए हैं, जिन का अर्थ यह है, ब्रह्म ने मेरा परित्याग नहीं किया, अतः मैं कभी ब्रह्म से विमुख न होऊं। हम दोनों का सदा योग रहे। इन मन्त्रों पर विचार करते हुए मनुष्य को परमेश्वरके प्रति भक्ति रूप मुख्य कर्तव्य को सदा पालन करना चाहिये।

द्वितीय कर्तव्य।

२ आन्तरिक और बाह्य पवित्रता।

अपने प्रति मनुष्यके कर्तव्यों में आन्तरिक और बाह्य पवित्रता का मुख्य स्थान है। इसी लिये वेद में सब प्रकार की पवित्रता के सम्पादन पर बडा भारी बल दिया गया है। ऋग्वेद नवम मण्डल के प्रायः मन्त्रों में जिनका देवता सोम पवमान है, इसी विषय में उपदेश तथा प्रार्थनायें पाई जाती हैं। साम वेद के अनेक मन्त्र भी इसी आन्तरिक और बाह्य शुद्धि का प्रतिपादन करने वाले हैं। अथर्व वेद, यजुर्वेद के अनेक मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में इस पवित्रता के भाव की सूचना देने वाले हैं। यहां चारों वेदों से इस विषयक थोडे से मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

(१) ऋग्वेद ५।९।५ में निम्न मंत्र आया है —

"इन्द्रः शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥"

अर्थात् (इन्द्र) ऐश्वर्य शाली राजन् (शुद्धः) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाला तू (न आ गहि) हमें प्राप्त हो (शुद्धः) पवित्र तू (शुद्धाभिः) पवित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ हमें प्राप्त हो (शुद्धः रयिं नि धारय) शुद्ध होता हुआ तू ऐश्वर्य धारण कर और (सोम्यः शुद्धः) सौम्य और पवित्र होता हुआ तू (ममद्धि) आनन्द अथवा भोग कर। इस मन्त्र के अन्दर पवित्र भावों के साथ ही रक्षा ऐश्वर्य धारण भोगादि सब कार्य करने चाहिये यह भाव स्पष्टतया सूचित किया गया है।

(२) ऋ. ९।६७।२२ में निम्न प्रार्थना है—

"पवमान सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः॥"

अर्थात् (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला (सः) वह परमेश्वर (अद्य) आज (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (पुनातु) हमें पवित्र करे। (यः पोता) जो वह पवित्र करनेवाला परमेश्वर है (स नः पुनातु) हमें वह अवश्य ही पवित्र करे। इस मन्त्र में भी दो वार परमेश्वर से जो कि पवित्रता का स्रोत है पवित्रता की प्रार्थना की गई है।

(३) ऋ० ९।७३।७ में वाणी की पवित्रता के विषय में निम्न लिखित मन्त्र आया है—

" सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं
पुनन्ति कवयो मनीषिणः ॥"

अर्थात् (मनीषिणः) बुद्धिमान् (कवयः) दूर दर्शी ज्ञानी लोग (सहस्रधारे वितते) सहस्र धाराओं के समान विस्तृत (पवित्रे) पवित्रता के स्रोत परमेश्वर में मग्न हो कर अर्थात् उस का भजन कर के (वाचं) वाणी को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं। ईश्वर भजनादि के द्वारा वाणी की पवित्रता को सम्पादन करने का इस मन्त्रमें उपदेश है। इसी भावको साम वेद में निम्न प्रकार प्रकट किया गया है -

(४)" वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तवर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते ॥"

साम० पू० ३।७।९

अर्थात् (वृत्रहन्) हे सब पापों का नाश करने वाले प्रभो (वयं) हम (घ) निश्चय से (सुतावन्तः) विद्या रूपी ऐश्वर्य से युक्त होते हुए (वृक्त वर्हिषः) अग्नि होत्रादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले (पवित्रस्य प्रस्रवणेषु) पवित्र स्वरूप तेरे पवित्रता के स्रोत में (आपः न) जलों के समान शान्त स्वभाव (स्तोतारः) स्तुति करने वाले पुरुष (परि आसते) बैठे हुए

हैं। 'वृक्त बर्हिषः' का अर्थ निघण्टु में ऋत्विक् ऐसा ही दिया है। परमेश्वर की पवित्रता की धाराओं में जल के समान बैठ कर भक्त लोग भी अपने को शुद्ध कर लेते हैं यह भाव यहां सूचित किया गया है जो काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है।

(५) यजुर्वेद अ० ३४ के प्रथम ६ मंत्रों में मन को शिव संकल्प बनाने के लिये जो प्रार्थनाएं आई हैं, वे इस प्रसङ्ग में दर्शनीय हैं। उन में से केवल एक मन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है-

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥"

अर्थात् (यत्) जो मन (जाग्रतः दूरम् उदैति) जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है (तद् उ दैवं) वह ही निश्चय से दिव्य गुण युक्त मन (सुप्तस्य) सोये हुए पुरुष के भी (तथा एव) वैसे ही (एति) दूर जाता रहता है (दूरं गमं) दूर जाने वाला (ज्योतिषाम्) इन्द्रियों का (एकं ज्योतिः) एक प्रकाशक (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शुभ संकल्प करने वाला (अस्तु) होवे। मन्त्र की व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं है। मन के अन्दर सदा शुभ भावों का उदय होना चाहिये यह इन सब मन्त्रों का भाव है।

(६) यजु० ४।४ में पवित्रता के सम्बन्ध में निम्न लिखित अत्युत्तम भाव पूर्ण मन्त्र आया है—

"चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्र-पते पवित्र-पूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥"

अर्थात् (चित्पतिः) चित्त का स्वामी (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे (सविता देवः) सर्वोत्पादक देव (सूर्यस्य रश्मिभिः)

सूर्य की किरणों के साथ (अच्छिद्रेण) सर्व दोष रहित (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (मा पुनातु)मुझे पवित्र बनाए (पवित्र पते) हे पवित्र स्वरूप स्वामिन् (पवित्र पूतस्य तस्य ते) पवित्र गुण कर्म स्वभावों के कारण सर्वथा शुद्ध तेरी (यत्कामः) जिस कामना से (पुने) पवित्रता अपने अन्दर धारण करता हूं (तत् शकेयम्) उस कामना को पूर्ण करने में मैं समर्थ हो सकूं। परमेश्वर पवित्रता का स्रोत है दिव्य शक्ति शान्ति और आनन्द को प्राप्त करने की कामना से उस की पवित्रता को अपने अन्दर धारण करना चाहिये यह इस मन्त्र का स्पष्ट आशय है। चित्त वाणी आदि का अधिष्ठाता मुझे पवित्र करे; इसी के अन्दर यह भाव आ जाता है कि वह मेरे चित्त वाणी आदि को पवित्र बनाए। इस प्रकार पवित्रता के स्रोत भगवान् की स्तुति प्रार्थना तथा उपासना के द्वारा अपने अन्दर पवित्रता धारण करने का वेद मन्त्रों में बहुत उत्तम उपदेश है।

(७) अथर्व ६। १९ में इस विषयक यह मन्त्र विचारने योग्य है—

" पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्ट तातये ॥"

अर्थात् (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला परमेश्वर (क्रत्वे) उत्तम कर्म करने के लिये (दक्षाय) चतुरता अथवा बल के लिये (जीवसे) उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने के लिये (अथो) और (अरिष्ट—तातये) अरिष्ट अथवा मंगल के विस्तार के लिये (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे। भावार्थ यह है कि अपने अन्दर ईश्वर भक्ति आदि द्वारा पवित्रता धारण करने से मनुष्य का आत्मिक बल बढता है और वह जीवन को सुखमय बनाते हुए उत्तम कार्य करने में समर्थ हो सकता है।

इस प्रकार की पवित्रता के सम्पादन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा उद्यत रहना चाहिये इस विषय में—

(१) "भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥"

(२) "भद्रं नो अभि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।"

इत्यादि मन्त्र भी देखने योग्य हैं, किन्तु सुप्रसिद्ध होने के कारण उन की व्याख्या करने की यहां जरूरत नहीं मालूम होती। अन्त में यजुर्वेद ६।१५ को यहां उद्धृत कर के हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिस से सब अङ्गों की सब प्रकार की पवित्रता सम्पादन करना ही वैदिक शिक्षा पद्धति का मुख्य तात्पर्य था यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी। मन्त्र निम्न प्रकार है-

"वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्ं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि॥"

गुरु की शिष्य के प्रति यह उक्ति है कि मैं (ते) तेरी (वाचम्) वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं (ते) तेरे (प्राणं शुन्धामि) प्राण को शुद्ध करता हूं (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरी आंख को मैं शुद्ध करता हूं (ते नाभिं, मेढ्ं, पायुं च शुन्धामि) तेरी नाभि उपस्थेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय को मैं शुद्ध करता हूं (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्र अथवा आचरणों को मैं शुद्ध करता हूं। मन्त्रका भाव अत्यन्त स्पष्ट है। सब इन्द्रियों को शुद्ध पवित्र रखना चाहिये और अन्त में इस प्रकार अपने चरित्र को उत्तम बनाना चाहिये जिस के विषय में मनु महाराजने ठीक कहा है कि-

"आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥"

यही चरित्र निर्माण ही वैदिक तथा प्राचीन शिक्षा प्रणालीकी आधार शिला थी और इसी आदर्श को हर्बर्ट स्पेन्सर आदि यूरो-

पीय अनेक शिक्षा वैज्ञानिकों ने भी ' Formation of character is the chief object of education अर्थात चरित्र निर्माण ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है इत्यादि वाक्य लिख कर फिर से स्थापित करने का यत्न किया है; अस्तु ।

तृतीय कर्तव्य ।

(३) पूर्ण आत्मसंयम प्राप्ति ।

प्रथम अध्याय में नवम सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आन्तरिक और बाह्य स्वराज्य को प्राप्त करना वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कर्तव्य है यह प्रमाण सहित दिखाया जा चुका है तथापि इस विषय में अभी कुछ और लिखने की आवश्यकता मालूम होती है । आत्म संयम को वेद के अन्दर कितना आवश्यक माना गया है इस बात को भली भाँति समझने के लिये हमें ब्रह्मचर्य की महिमा वर्णन करने वाले सूक्तों पर फिरसे दृष्टि दौडानी चाहिये । अथर्व वेद ११ वें काण्ड के कुछ मन्त्रों का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है एक दो प्रसिद्ध मन्त्रों का फिर उद्धृत कर देना यहां अप्रासङ्गिक न होगा ।-

(१) "ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥"

अ. ११ । ५ । १७

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण ही (ब्रह्म-

चारिणम् इच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। इस प्रकार के सब मन्त्रों में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य अविवाहित रहने से नहीं किन्तु आत्मसंयम प्राप्त करने से ही है। ब्रह्मचर्य का इन्द्रियों पर काबू पाये विना राजा अपनी प्रजा अथवा राष्ट्र का धारण अच्छी प्रकार नहीं कर सकता। जो अपने को वश में नहीं कर सकता उस से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दूसरों को अच्छी तरह वश में रख सकेगा इसी आशय से मनुस्मृति में लिखा है-

"जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारयितुं प्रजाः ॥"

जो आचार्य आत्म संयमी नहीं वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता। अब दूसरा मन्त्र देखिये-

(२) "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत् ॥"

११।५।१९

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा (देवाः) ज्ञानी लोग (मृत्युम्) मौत को (उपाघ्नत) मारते हैं स्वाधीन कर लेते हैं (इन्द्रः) जीवात्मा (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के प्रताप से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये (स्वः) सुख को (आभरत्) धारण करता है। पूर्ण आत्मसंयम प्राप्त किये विना कभी भी आत्मिक सुख और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता यह यहां तात्पर्य है। ब्रह्मचर्य से यहां आत्म संयम से ही अभिप्राय है न कि अविवाहित रहने से, अतः गृहस्थी लोगों को भी ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये इस बात को वेद में ओषधि वनस्पति संवत्सर आदि की उपमा से कैसा स्पष्ट कर दिया है यथा-

"ओषधयो भूतभव्यमहो रात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तु'भिस्ते जाता ब्रह्मचरिणः॥" ११।५।२०

ओषधि वनस्पति आदि अपनी अपनी ऋतु के अन्दर ही फूलती फलती हैं इसी प्रकार गृहस्थियों को ऋतु गामी होना चाहिये यही उन के लिये ब्रह्मचर्य है जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है-

" ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥"

इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि व्रतों द्वारा पूर्ण आत्मसंयम को प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्तिका एक मुख्य कर्तव्य है। तप अर्थात् शीतोष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अपमानादि द्वन्द्वों का सहन करना उस आत्म संयम की प्राप्ति में मुख्य साधन है, अतः उस का अनुष्ठान भी अवश्य ही करना चाहिये । अब वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्यों के विषयमें थोडासा विवेचन किया जाएगा ।

वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्य ।

इस विषय पर कुछ लिखने से पूर्व सामान्य तौर पर गृहस्थाश्रम के बारे में वेद में कैसा भाव रखा गया है और वेद के अनुसार स्त्रियों की स्थिति क्या है इन दो विषयों पर थोडा प्रकाश डालना अत्यावश्यक है । निम्न लिखित कुछ वेद मन्त्रों पर यहां अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये ।

(१) ऋ. १० । ९५ का २७ वां मन्त्र इस प्रकार है—

"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥"

विवाह के समय वर वधू को कहता है (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये (ते हस्तं) तेरे हाथ को (गृभ्णामि)

ग्रहण करता हूं (मया पत्या) मुझ पति के साथ (यथा) जिस से तू (जरदष्टिः) वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाली (असः) हो। (भगः) ऐश्वर्य शाली (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) जगदु-त्पादक (पुरन्धिः) अत्यन्त बुद्धिवाला परमेश्वर तथा (देवाः) सब ज्ञानी लोग (त्वा) तुझे, (मह्यम् अदुः) मेरे प्रति सौंप चुके हैं। तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार गृहस्थाश्रम मनुष्य के सौभाग्यकी वृद्धि का एक प्रधान कारण है और पति पत्नीके सम्बन्ध को पाशविक वासनाओं के तृप्त करने का साधन नहीं अपि तु उन दोनों के एक दूसरे की सहायता से उन्नति करने का परमेश्वर प्रेरित साधन समझते हुए व्यवहार करना चाहिये।

(२) यजु. ३ । ४१ । में इस विषयक निम्न मन्त्र अत्युत्तम भाव पूर्ण है—

" गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ "

अर्थात् (गृहाः) हे गृहस्थी लोगो ! अथवा मेरे घरके सम्ब-न्धियो ! (मा बिभीत) मत डरो (मा वेपध्वम्) मत कम्पाय-मान होवो हमारे भविष्य जीवन के विषयमें किसी तरह की चिन्ता न करो क्यों कि हम (ऊर्जं बिभ्रतः) बल और अन्नादि धारण करते हुए (एमसि) आते हैं- गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर-ते हैं। आगे वही ब्रह्मचर्य से द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कहता है कि मैं (मनसा) मन से (मोदमानः) प्रसन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन वाला (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला और (ऊर्जं) बल को (बिभ्रद्) धारण करता हुआ (वः) तुम्हारे (गृहान्) घरों को (एमि) आता हूं। तात्पर्य यह है, कि जो ब्रह्मचर्य आश्रममें अपने मन बुद्धि शरीर आदि की शक्तियों को बढाते हुए और उन्हें पवित्र बनाते हुए

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है वही सुखमय जीवन गृहस्थाश्रम में व्यतीत कर सकता है नहीं तो आदमी चिन्ताओं के कारण प्रति दिन क्षीण होता चला जाता है अतः गृहस्थाश्रम को स्वर्ग धाम और नरक धाम बनाना मनुष्य के अपने ही हाथों में है।

(३) अथर्व वेद ७। ६०। १ में इस विषयका बहुत ही उत्तम शब्दों में प्रतिपादन किया गया है—

" ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ "

अर्थात्, मैं (ऊर्जं बिभ्रद्) बल धारण करता हुआ (वसु वनिः) ऐश्वर्य का सेवन करने वाला— (वन षण - संभक्तौ) (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (अघोरेण) सौम्य (मित्रियेण चक्षुषा) मित्र दृष्टिसे सम्पन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन· से युक्त (वन्दमानः) वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ (गृहान् एमि) घरों में आता हूं, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हूं (रमध्वम्) तुम सब खुशी मनाओ (मत्) मेरे से (मा·बिभीत) न डरो। यह ब्रह्मचर्यसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले के मुंहसे वेदमें कहाया गया है। जो लोग गृहस्थाश्रम को नरक धाम अथ· वा दुःख का मूल समझते हैं उन्हें इस प्रकारके वैदिक आशयोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्रमें स्पष्ट ही—

'इमे गृहा मयो भुवः'

ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि ये घर सुख देने वाले हैं, दूसरे शब्दोंमें गृहस्थाश्रम स्वर्गका धाम है, किन्तु इस स्थापना के साथ एक शर्त लगी हुई है कि जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता इन सब को धारण करते हुए ब्रह्म- चर्य से गृहस्थमें प्रवेश करे तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, अन्यथा उसके नरक धाम होनेमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। अब

स्त्रियों की स्थिति विषयक प्रश्नपर वैदिक दृष्टिसे थोडासा विचार करना है । इस विषयमें निम्न लिखित वेद मन्त्र विशेष मनन के योग्य हैं—

(१) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ. १ । ३ । ११

अर्थात् (सूनृतानाम्) मधुर और सत्य वचनों की (चोदयित्री) प्रेरणा करने वाली (सुमतीनां चेतन्ती) उत्तम मति या सलाह को देने वाली (सरस्वती) विदुषी स्त्री (यज्ञं) शुभ कर्म को (दधे) धारण करती है अथवा अग्नि होत्रादिका अनुष्ठान करती है । इस मन्त्र में निम्न लिखित बातें कही हैं ।

(१) मधुर और सत्य वचन स्वयं बोलना और दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करना ।
(२) अपने पति तथा दूसरे लोगों को उत्तम सलाह देना और—
(३) यज्ञादिका अनुष्ठान करना यह देवियों का धर्म है ।

इस धर्मका पालन करने वाली जो सरस्वती अर्थात विदुषी स्त्री होती है उस की सब पूजा करते हैं, इस भावको ऋ. १०।१७।७ में इस प्रकार प्रकट किया गया है-

(२) "सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त, सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥"

अर्थात् (देवयन्तः)दिव्य शुभ गुणों की इच्छा करने वाले पुरुष (सरस्वतीं) विद्यावती देवी की (हवन्ते) पूजा करते हैं, (अध्वरे) अहिंसात्मक शुभ कर्म के (तायमाने) विस्तृत होने पर पुरुष (सरस्वतीं हवन्ते) विदुषी स्त्री को निमन्त्रण देते हैं । (सुकृतः) उत्तम कार्य करने वाले सब सज्जन (सरस्वतीं) विदुषी देवी को सहायता के लिये (अह्व-

यन्त) बुलाते हैं और इस प्रकार (दाशुषे) सत्कार पूर्वक निमन्त्रण देने वाले पुरुष के लिये (सरस्वती) विदुषी स्त्री (वार्यं) उत्तम ज्ञान अथवा सलाह (दात्) देती है। इस मन्त्र के अन्दर प्रत्येक शुभ कर्म करते हुए विदुषी देवियों की सलाह ले लेना और उन की पूजा करना आवश्यक है यह भाव सूचित किया गया है।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥"

मनु महाराज के इस वचन को यहां स्मरण करना चाहिये।

(३) यजु० अ० ८ में जिस का पत्नी देवता है स्त्रियों के विषय में निम्न मन्त्र आया है, जो बहुत ही उत्तम है-

"इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥"

यजु० ८।४३

अर्थात् (इडे) हे प्रशंसित गुण युक्त (रन्ते) रमणीय (हव्ये) पूज्य (काम्ये) कामना करने योग्य (चन्द्रे) आल्हादित करने वाली (ज्योते) घर में ज्योति के समान प्रकाशमान (अदिते) दीनता और दुर्बलता के भावों से रहित (सरस्वति) सर अथवा प्रवाह परम्परा से जो श्रेष्ठ ज्ञान चला आता है उस को प्राप्त करने वाली विदुषी (महि) महान् उदार भावों से युक्त (विश्रुति) बहुत कुच्छ जिस ने श्रवण किया हुआ है ऐसी, हे बहुश्रुत देवी! (अघ्न्ये) हे कभी न मारने वा तिरस्कार करने योग्य देवि! (ते) तेरे (एता) ये सब इडा रन्ता आदि (नामानि) नाम हैं अर्थात् इन सब ऊपर कहे हुए गुणों से तू सम्पन्न होने के कारण इडादि नामोंसे पुकारी जाती है। वह तू (देवेभ्यः) विद्वानोंके लिये और (मा) मेरे लिये (सुकृतम्) जो शुभ कर्म है, उसका (ब्रूतात्) उपदेश कर। इस मन्त्र की विशेष व्याख्या

करनेकी आवश्यकता नहीं। एक सच्ची देवी घरमें ज्योति का काम देती है, हृदय में जिस समय अन्धकार छा जाता है वही चन्द्रका काम करती है, जिस समय पुरुष के अन्दर हीनता दुर्बलता के भावोंका राज्य हो जाता है, तो वही सच्ची देवी अदितिके रूपमें उसको उत्साह दिलाती है, जब पुरुषके अन्दर संकुचित स्वार्थ भावोंकी प्रधानता होने लगती है, तो सच्ची देवी उदार भावोंका वहां प्रवेश कराती है, अपने ज्ञान के प्रकाश से वह संपूर्ण अन्धकारको दूर भगा कर पुरुष को सदा धर्म के मार्ग में प्रेरित करती है, इसी लिये ऐसी विदुषी देवी की सदा पूजा करनी चाहिये; उस के उत्तम गुणों की सदा प्रशंसा करनी चाहिये, ता कि उत्तम सुख की प्राप्ति हो सके। यह भाव है जो यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। मैं पूछता हूं कि क्या देवियों के विषय में इतना उत्तम और पवित्र भाव किसी दूसरे धर्म ग्रन्थ में पाया जाता है? क्या सभ्य से सभ्य आधुनिक पुरुषों के ग्रन्थों में भी कहीं देवियों के विषय में इतने ऊंचे भाव का प्रकाश किया गया है? यदि नहीं तो सामाजिक विकास वादके सिद्धांत को मानते हुए वेदों को जङ्गलियों के गीत बतलाना कितना पक्षपातपूर्ण और सारहीन है यह स्वयं बुद्धिमान् विचार कर सकते हैं।

(४) अथर्व वेद का १४ वां काण्ड सारा ही गृहस्थाश्रम विषयक है जिस में पति पत्नी सम्बध और कर्तव्य विषय में बहुत उत्तम उपदेश पाये जाते हैं, उन में से दो तीन ऐसे मन्त्रों का यहां उल्लेख किया जाएगा जिन से यह स्पष्ट है कि देवियों को अपने पतियों के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहयोग देना चाहिये और इस के लिये उत्तम ज्ञान का सम्पादन करना चाहिये।

अथर्व १४। १। ४२ इस प्रकार है—

" आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्। "

अर्थ— हे देवि (सौमनसम्) उत्तम मन (प्रजाम्) उत्तम सन्तान (सौभाग्यम् रयिम्) उत्तम भाग्य ऐश्वर्य इन सब की (आशासाना) इच्छा करती हुई तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता भूत्वा) अनुकूल शुभ कर्म करने वाली हो कर (अमृताय) अमृतत्व की प्राप्ति के लिये (कम्) सुख को (संनह्यस्व) बांध अथवा सम्पादन कर। अनुव्रता होनेका तात्पर्य यह है कि पति का जो अध्यापन प्रचारादि परोपकारार्थ उत्तम कर्म है उस में सहयोग देना अर्थात् कन्याओं को पढाने और स्त्रियों के अन्दर प्रचार करने का कार्य अपनी इच्छा से लेकर पति की शुभ भावनाओं को पूर्ण करने में सहायता देना यह प्रत्येक पतिव्रता देवी का मुख्य धर्म है। इस धर्म का पालन करने से न केवल इस लोक और परलोक में ही सुख मिलता है, बल्कि पूर्णानन्द रूप मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है; यह भाव यहां सूचित किया गया है।

(५) अपने पति सास ससुर आदि को सुख देना तथा घर के सब कार्यों को अच्छी प्रकार करना यह तो देवियों का धर्म है ही, किन्तु इतने में ही उनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, सारी प्रजा का कल्याण करना यह भी उन के कर्तव्य के अन्तर्गत है इस बात को समझने के लिये अथर्व वेद का निम्न लिखित मन्त्र विशेष विचारणीय है—

"स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥"

अ० १४। २। २७

अर्थात् हे देवि (श्वशुरेभ्यः) श्वशुर आदि वृद्ध पुरुषों के लिये (स्योना) सुख देने वाली (भव) हो (पत्ये) पति के लिये और (गृहेभ्यः) घरवालों के लिये (स्योना) सुख देने वाली हो (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सारी (विशे) प्रजा के लिये (स्योना) तू सुख देने वाली हो (एषाम्) इन सब पुरुषों की (पुष्टाय) पुष्टि अथवा उन्नति के लिये (स्योना भव) तू सुख देने वाली हो। इस मन्त्र के पूर्वार्ध में अपने घर के सब सम्बन्धियों को सुख देना स्त्री का कर्तव्य बताते हुए उत्तरार्ध में सारी प्रजा का कल्याण करना और पुरुषों को उन्नति में सहायता देना यह भी देवियों का कर्तव्य बतलाया गया है, वह अत्यन्त महत्व पूर्ण है और उस से उन लोगों के मत का समर्थन नहीं होता, जो केवल घर का कार्य भली प्रकार करना ही देवियों का धर्म है, घर से बाहर कार्य क्षेत्र में उन्हें उतरने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं, क्यों कि विना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय काम किये देवियाँ कभी सारी प्रजा का कल्याण नहीं कर सकतीं, जैसी कि इस मन्त्र में उन्हें आज्ञा दी गई है।

(६) प्रत्येक शुभ कर्म को करते हुए पत्नी की अनुमति लेना वेद में आवश्यक माना गया है। महाभारत में एक स्थानपर कहा है—

"अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा"।

अर्थात् पत्नी पुरुष के आधे शरीर के समान और वही सब से श्रेष्ठ मित्र के समान है, इसी भाव को वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्व वेद ७।२०।५ में कहा है—

"एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सु क्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्य प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देव गोपा॥"

यहां इसी भाव को प्रकट करने के लिये कि विवाह सम्बन्ध निश्चित करने और अन्य कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के लिये पत्नी की अनुमति लेना आवश्यक है, उसे अनुमति नामसे पुकारा गया है । मन्त्र का अर्थ यह है कि (अनुमतिः) जिस की अनुमति आवश्यक है ऐसी यह देवी (इमं यज्ञम्) इस विवाह यज्ञ को करने के लिये (आजगाम) आई है । यह यज्ञ कैसा है किस उद्देश्य से विवाह यज्ञ रचा गया है, (सुक्षेत्रतायै) उत्तम सन्तान के लिये एक क्षेत्र तय्यार करने और (सुवीरतायै) उत्तम वीर पुत्रों की उत्पत्ति के लिये (सुजातम्) सुप्रसिद्ध बनाया गया (अस्याः) इस देवी की (प्रमतिः) उत्तम बुद्धि (हि) निश्चय से (भद्रा प्रबभूव) कल्याण कारक है (सा) वह (देव-गोपा) परमात्म देव जिस के रक्षक हैं अथवा देवशुभ गुणों की रक्षा करने वाली यह देवी (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे यहां क्षेत्रादि की उपमा दे कर विवाह यज्ञका एक मुख्य प्रयोजन उत्तम वीर सन्तान का उत्पन्न करना है, यह भाव सूचित किया गया है । साथ ही जहां इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह नहीं होता वहां उत्तम सन्तान भी उत्पन्न नहीं हो सकती, इस बात का निर्देश कर दिया गया है । वर वधू दोनों की पूर्ण प्रसन्नता से हि विवाह होना चाहिये इस बात पर जोर देते हुए वेद में सैकडों स्थानों पर

"सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीम्' (अथर्व १४ । १ । ९.)
'मोदमानौ स्वे गृहे' (ऋ. १ । ५ ।)
'आ रोह तल्पं सुमनस्यमाना' (अ. १४ । २ । ३१ ।)
'परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः' (अ. १४ । २ । ३९)
'हसामुदौ महसा मोदमानौ' (अ. १४ । २ । ४३)

इत्यादि शब्द आए हैं जिस में परस्पर प्रसन्नता पूर्वक विवाह

करने तथा गृहस्थ के व्यवहार करनेका स्पष्ट उपदेश है। जहां इस वेदकी आज्ञाका पालन नहीं होता और वर वधू को एक दूसरे की अनुमति लिये विना नाइयों या पुरोहितों द्वारा ऐसे ही कहीं से पकडकर बांध दिया जाता है, वहां क्या परिणाम होता है इस विषय में मनु महाराजने ठीक कहा है कि-

" यदि हि स्त्री न रोचेत, पुमांसं न प्ररोचयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ "

इस लिये वेद के अन्दर सर्वत्र विवाह सम्बन्ध का निश्चय माता पिता आदि पर न छोड कर विवाहार्थी युवक पुरुष और युवति कन्या पर छोडा गया है, इस स्थापना की पुष्टि के लिये निम्न लिखित कुछ प्रमाण पेश करना पर्याप्त है।-

(१) ऋ० १० । १८३ में युवती कन्या युवा अविवाहित पुरुष को इस प्रकार कहती है-

" अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ "

अर्थात् (पुत्र काम) गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पुत्र की कामना करने वाले युवक मैंने (मनसा) मन से (चेकितानं) जानने वाले अथवा मुझे चाहने वाले (तपसः जातम्) सादगी में पले हुए और (तपसः विभूतम्) तप की विभूति से युक्त (त्वा) तुझे ब्रह्मचारी को (अपश्यम्) देखा है (इह) यहां (प्रजां) सन्तान और (इह) यहां गृहस्थाश्रममें (रयिं) ऐश्वर्य को लेकर (रराणः) रमण करता हुआ तू (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) फिर उत्पन्न हो अथवा वृद्धि को प्राप्त हो।

" आत्मा वै पुत्र नामासि "।

के अन्दर जो भाव है कि मानो पिता ही पुत्र के अन्दर प्रवेश करता है, वही यहां ' प्रजया प्रजायस्व ' का भाव है। ' तपसो

जा तं तपसो विभूतम् ' ये शब्द स्पष्ट उस युवक के ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने की सूचना देते हैं। इस प्रकार अपने गुणकर्मानुसार किसी युवक ब्रह्मचारी को कन्या पसन्द कर लेती है, तो वह भी उस के गुण कर्म स्वभाव को सर्वथा अनुकूल पाकर कन्या से कहता है,

" अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उपमामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजाया पुत्रकामे ॥"
ऋ० १०।१८३।२

अर्थात् (पुत्र कामे) हे पुत्र की कामना करने वाली कुमारि ! (मनसा) मन से (दीध्यानां) मेरा ध्यान करती हुई (स्वायां तनू) अपने शरीर को (ऋत्व्ये) ऋतु गामी हो कर गर्भाधान के लिये (नाधमानाम्) प्रार्थना करती हुई—वा गर्भाधान की इच्छा करती हुई (त्वा) तुझको (अपश्यम्) मैं ने देखा है (उच्चा) उच्च भाव युक्त (युवतिः) युवावस्था वाली तू (माम् उप बभूयाः) मेरे समीप आ अथवा मेरे साथ विवाह सम्बन्ध कर और फिर (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो। यहां भी " मनसा दीध्यानाम् । अपश्यम् युवतिः" इत्यादि शब्दों से यह बात बिल्कुल साफ जाहिर होती है, कि विवाह युवावस्था में और वर वधू की अपनी ही प्रसन्नता से होना चाहिये। माता पिता आदि से केवल अनुमति ले लेना पर्याप्त है। जहां इस प्रकार वर वधू एक दूसरे का चुनाव करते हैं, वहीं सच्चा स्थायी प्रेम रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस बातको देखिये ऋग्वेद के निम्न लिखित मन्त्रमें कितनी स्पष्ट रीति से बताया है-

"कियती योषा मर्यतो वधूयोः परि प्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सामित्रं वनुते जने चित् ॥"
ऋ. १०।२७।१२

अर्थात् (पन्यसा वार्येण) प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त (वधूयोः) स्त्री की कामना करने वाले (मर्यतः) मनुष्य के लिये (कियती योषाः) कैसी स्त्री (परि प्रीता भवति) अनुकूल होती है-कैसी स्त्री को एक गुणी पुरुष पसन्द करता है (यत्) जो (सुपेशाः) सुन्दर रूप वाली (भद्रा) कल्याण और सुख देने वाली (वधूः) स्त्री (जने चित्) मनुष्यों के अन्दर से (स्वयं) अपने आप (मित्रं) अनुकूल मित्र अथवा साथी को (वनुते) चुनती है और चुन कर उस की सेवा करती है ।

इस विषय में अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं, क्यों कि विवाह के मंत्रों में 'सुमनस्यमानौ मोदमानौ' आदि शब्द इसी बात की सूचना देने वाले हैं ।

विवाहित पति पत्नी का परस्पर कितना प्रेम होना चाहिये इस बात की शिक्षा अथर्व में उन दोनों के मुख से-

"अन्तः कृणुष्व मां हृदि, मन इन्नौ सहासति"

(अथर्व ७ । ३५ । ४)

तथा—

"ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन"

(अथर्व ७ । ३८ । ४)

इत्यादि वचन कहला कर दी गई है जिन का अर्थ यह है कि हे वधु (मां) मुझ को (हृदि अन्तः कृणुष्व) अपने हृदय के अन्दर बैठा ले (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन तक भी (सह असति) इकट्ठा एक हो जाय। दूसरे में वधू वर को कहती है (त्वं) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही हो कर (असः) रह (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों की (कीर्तयाः चन नं) चर्चा तक न कर । पतिव्रता धर्म और पत्नीव्रत धर्म का यह कितना सुन्दर उपदेश है । अथर्व १४ । २ ।६४ में इस पति पत्नी

प्रेम के भाव को स्पष्ट करने के लिये चक्रवाक चक्रवाकी अथवा चकवा चकवी की उपमा दी गई है, जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस से एक पत्नी व्रत का भाव बहुत ही साफ हो जाता है, क्योंकि चकवा चकवी का प्रेम और पत्नी पति व्रत बहुत ही प्रसिद्ध है मन्त्र इस प्रकार है-

"इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥"

अथ० १४।२।६४

अथर्व ३।३० में पारिवारिक कर्तव्यों का एक संक्षिप्त किन्तु अत्युत्तम वर्णन आया है, वहां पुत्रका पितामाता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये तथा भ्राता भगिनी, पति पत्नी का कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषय में कहा है-

"अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया" ॥३॥

जिनका तात्पर्य यह है कि (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल कर्म करने वाला हो, (मात्रा) माताके साथ पुत्र (संमनाः) समान मन वाला (भवतु) होवे, (जाया) पत्नी (पत्ये) अपने पतिके लिये (शन्तिवाम्) शान्ति देने वाली (मधुमतीं) अत्यन्त मधुर मानो जिस में शहद लगा हुआ हो ऐसी (वाचं) वाणी को (वदतु) बोले। यहां पहले चरण का आशय विशेष ध्यान में रखने योग्य है, उसका अर्थ यह है कि यदि पिता ने कोई परोपकारार्थ शुभ कर्म प्रारम्भ किया था, तो उसको पूरा करना यह पुत्रका मुख्य कर्तव्य है। व्रतका अर्थ ही शुभ कर्म है, अतः पिता के हरेक काम का पुत्र को अनुसरण

करना चाहिये, यह भाव यहां नहीं है, किन्तु अच्छे कामों को पूर्ण करने में सहयोग देनेसे यहां मतलब है, मनुके–

"येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं, तेन गच्छन्न रिष्यति॥"

इस श्लोक का भी ऊपर कहा हुआ ही आशय है। भाइयों का भी ऐसा ही परस्पर प्रेम और मेल जोल होना चाहिये और उन्हें मिलकर एक दूसरेके शुभ संकल्पोंके पूर्ण करने और अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदा यत्न करना चाहिये यह 'सम्यञ्चः' और 'सव्रता' शब्दोंसे प्रकट होता है, जिनका अर्थ मिलकर एक उद्देश्य की सिद्धिके लिये यत्न करते हुए और समान शुभ कर्म वाले ऐसा है। जिस प्रकार पति के साथ मधुर वाणी बोलना पत्नी का कर्तव्य है उसीतरह पत्नी के साथ मधुर शब्द बोलना पतिका भी कर्तव्य है इस बात को अथर्व १४। १। ३१ में स्पष्ट सूचित किया गया है। तथा–

"युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥"

अर्थात् (युवं) तुम दोनों वर वधू (समृद्धम्) सदा बढ़ने वाले (भगं) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) पूर्ण करो-भरो, क्या करते हुए (ऋतोद्येषु) सत्य से कथन करने योग्य व्यवहारों में (ऋतं वदन्तौ) सत्य भाषण करते हुए (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञानके स्वामी जगदीश्वर! (अस्यै) इस वधू के लिये (पतिम्) पतिको सदा (रोचय) अनुकूल एकही रुचि वाला बना, जिससे (संभलः) अच्छी प्रकार भार्याका भरण पोषण करता हुआ वह (एताम्) इस (चारुवाचम्) सुन्दर मधुर वाणी को (वदतु) बोले। मंत्रके पूर्वार्ध में सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करते

हुए इमान दारी के साथ जो वर वधू को ऐश्वर्य कमाने का उप-देश है वह बहुत भाव पूर्ण है। उससे वैदिक आशय की उच्चता और गंभीरता पर प्रकाश पड सकता है। इस विषयमें अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु विस्तार के भय से एक आध और आवश्यक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

अतिथि सत्कारादि के बारे में वेद में अत्युत्तम उपदेश पाये जाते हैं। विद्वानों का सब प्रकार से सत्कार करना यह सब गृह-स्थियों का मुख्य कर्तव्य है। ऋ॰ १। १२५ में इस विषय में बडा जोरदार उपदेश है। अन्तिम मन्त्र में कहा है—

"मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः॥"

ऋ॰ १। १२५। ७

अर्थात् (पृणन्तः) अतिथियों और विद्वानों का अन्नादि से सत्कार करने वाले (दुरितमेन) दुःखमय मार्ग से (मा आरन्) न जावें, कभी दुःखी न हों। (सुव्रताः) शुभ कर्म करने वाले (सूरयः) विद्वान् (मा जारिषुः) कभी न नष्ट होवें (तेषाम्) उन का (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा (परिधिः अस्तु) धारण करने वाला हो (अपृणन्तम्) अतिथि सत्कारादि न करने वाले कृप-णको (शोकाः) शोक (अभि संयन्तु) प्राप्त होवें। इस विषयक अन्य कुछ मन्त्रों को हम फिर लिखेंगे यहां इस प्रकरण को वि-स्तार भय से समाप्त किया जाता है।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र ।

तृतीय परिच्छेद ।

यज्ञ ।

द्वितीय अध्याय में संक्षेपसे वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का वर्णन किया जा चुका है । इस अध्याय में सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में वेद क्या कहता है इस विषय का दिग्दर्शन कराना है । अनेक वेदज्ञ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस आवश्यक विषय का उचित रीतिसे निरूपण किया है अतः हमें विस्तार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

सूक्ष्म रीतिसे वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का विचार किया जाए तो मालूम हो जायगा कि यज्ञ शब्द के अन्दर प्रायः सब सामाजिक कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है। केवल वेदमें ही नहीं प्रायः सभी प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंमें यज्ञकी जो इतनी महिमा गाई गई है उस में कुछ विशेष कारण होना चाहिये । यह वात साफ है कि अग्नि के अन्दर सामग्री और घृत डालने का नाम ही वेदादि में यज्ञ नहीं है, इस का अत्यन्त व्यापक अर्थ है । भगवद्गीता के अन्दर यज्ञ की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण भगवान ने स्पष्ट बताया है कि —

(द्रव्यज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ भ० गी० ४।२८

अर्थात् व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्ययज्ञ करने वाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन रूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति संयम रूपी योग यज्ञ करते हैं और अन्य कई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को यह भी उपदेश दिया है कि निःसन्देह अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते हैं वे जन्ममरण के चक्र में आदमी को डालने वाले होते हैं पर यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है वह बन्धन में नहीं डालता, अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥"
भ० गी० ३। ८

इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण का अभिप्राय केवल प्राकृतिक द्रव्यमय यज्ञ से नहीं किन्तु परोपकार के लिये निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबको यहां यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। यज्ञ विषयका मुख्यतः प्रतिपादन करने वाले यजुर्वेद के प्रथम हीमन्त्र में--

"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे"

ये जो शब्द आये हैं वे स्पष्ट तौर पर यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिये यज्ञ शब्दका प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त क्यों कि 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' इस सिद्धान्त के अनुसार सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, यहां यज्ञ शब्द के धात्वर्थपर थोडासा विचार करना अनुचित न होगा।

यज्ञ शब्द यज्-धातु से बनता है जिस का अर्थ धातुपाठमें देव-पूजा संगतिकरण दान बताया गया है। वे देव लोग कौन हैं जिनकी पूजा करना यज्ञका प्रधान अङ्ग माना गया है यह एक आवश्यक और कठिन प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। 'विद्वांसो हि देवाः' ऐसा शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यद्यपि लिखा है और भगवद्गीता के १६ वें अध्यायमें-

" अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥"

इत्यादि श्लोकों द्वारा दैवी प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया गया है तो भी स्वयं वेदमें आये हुए इस विषयक वर्णन का संक्षेपसे निरूपण किये विना हमें सन्तोष नहीं हो सकता। अतः वेदमन्त्रों के आधार पर देव तथा उन की प्रकृति पर थोडासा यहां विचार किया जाता है। ऋ. १० म मण्डल के ६२-६६ तकके सूक्त विश्व-देव-विषयक हैं, उनके आधार पर विचार करने में हमें बडा सुभीता रहेगा। ६२ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

(१)"ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममतत्वमानशुः।
तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥"

ऋ॰ १०। ६२। १

अर्थात् (ये) जो (यज्ञेन) यज्ञ और (दक्षिणया)दक्षिणा से (समक्ताः) सम्पन्न होकर (इन्द्रस्य) परमेश्वरकी (सख्यम्) मित्रता को और (अमृतत्वम्) मोक्षको (आनशुः) प्राप्त होते हैं ऐसे (अंगिरसः) अग्निके समान तेजस्वी (सुमेधसः) प्रतिभा शाली देवो ! (वः) तुम्हारा (भद्रम् अस्तु) सदा कल्याण हो तुम कृपा करके (मानवं) साधारण मनुष्य को (प्रति गृभ्णीत) अपनी संरक्षा में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेश और सङ्ग

से उसे उठाओ। इस मन्त्रके अंदर देवों के निम्न लिखित गुण बताये गये हैं।

(१) वे यज्ञ और दानके द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी मित्रता करते हैं अर्थात् शुभकर्मोंके अनुष्ठान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते और उसे अपना सहायक समझते हैं।

(२) उसी भगवान् के आश्रय से वे अन्तमें इस शरीर को छोडने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(३) वे कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने वाली मेधा से सम्पन्न होते हैं।

(४) वे परोपकार में तत्पर रहते हुए अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं।

इसी ६२ वें सूक्तका दूसरा मन्त्र इस प्रकार है।

"ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमंगिरसो वो अस्तु पतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥"
ऋ० १०। ६२। ३

अर्थात् (ये) जो (ऋतेन) सत्यभाषण सत्य व्यवहार अथवा ज्ञान के द्वारा (दिवि) आध्यात्मिक विज्ञान रूप प्रकाश में (सूर्यम्) आत्मिक अन्धकार को दूर करने वाले परमेश्वर को (आरोहयन्) उदय कराते हैं-परमेश्वरीय दिव्य ज्योतिका दर्शन करते हैं (ये) जो (पृथिवीं मातरम्) मातृभूमि अथवा उसके यश को (वि अप्रथयन्) विस्तृत करते हैं-मातृ भूमिके मुख को उज्ज्वल करते हैं ऐसे (अङ्गिरसः) अग्निके समान तेजस्वी देवो (वः) तुम्हारी (सुप्रजास्त्वम् अस्तु) उत्तम सन्तान हो और तुम कृपा करके (सुमेधसः) उत्तम मेधासे स्वयं युक्त होते हुए (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मनुष्य मात्र को अपनी संरक्षा वा शरणमें ग्रहण करके उसे उन्नत करो। इस मन्त्रमें 'दिवि सूर्यमा-

रोहयन्' का भाव बहुत स्पष्ट नहीं तो भी ऊपर कहा हुआ अर्थ सर्वथा सम्भव है । शेष मन्त्र में देवों के विषय में मुख्यभाव ये हैं

(१) वे आत्मिक ज्योति को प्राप्तकर के आन्तरिक अन्धकार को दूर करते हैं,

(२) वे मातृ-भूमि के यश का विस्तार करते हैं,

(३) वे स्वयं बुद्धि और ज्योति से सम्पन्न होकर मनुष्य मात्रको उन्नत करनेका यत्न करते हैं । इस विषयमें यजु० अ० ३ का ३३ वां मन्त्र देखने योग्य है जो देवों का ऐसा वर्णन करता है—

" ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय ।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् " ॥ य० ३ । ३३

अर्थात् (ते) वे सब देव (अदितेः पुत्रासः) स्वतन्त्रता देवी के अथवा अदीन प्रभावशालिनी माता के पुत्र हैं, वे (हि) निश्चयसे (मर्त्याय) मनुष्यके लिये (प्रजीवसे) उत्तम और दीर्घ जीवन व्यतीत करने के वास्ते (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः यच्छन्ति) ज्योति-प्रकाश-देते हैं । इस मन्त्र में देवों के विषय में कहा है, कि (२) वे स्वतन्त्रता देवीके पुत्र अर्थात् अत्यन्त स्वतन्त्रता प्रेमी हैं, (१) मनुष्य अच्छीरीति से देरतक जी सकें इस के लिये वे उन्हें उत्तमज्ञान रूपी प्रकाश लगातर देते रहते हैं उससे भी देवों की परोपकारार्थ प्रवृत्ति स्पष्ट मालूम होती है ।

(४) देवों की प्रकृति समझने के लिये ऋ. १० । ६६ । १ भी विशेष मनन के योग्य है अतः उसका उल्लेख अनुचित न होगा-

" देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः । ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥ "

अर्थात् (स्वस्तये) कल्याणके लिये (बृहच्छ्रवसः) बड़ी कीर्तिवाले यशस्वी (ज्योतिष्कृतः) प्रकाश करने वाले अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले (अध्वरस्य) अहिंसामय व्यवहार का (प्रचेतसः) बोध कराने वाले (देवान् हुवे) ज्ञानियों को मैं निमन्त्रण देता हूं। (ये) जो (ऋतावृधः) सदा सत्य का पक्ष पोषण करने वाले (विश्ववेदसः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वा ज्ञान से युक्त (अमृताः) आत्मिक अनुभव के कारण अपने को अमर मानने वाले (इन्द्र ज्येष्ठाः) सर्वैश्वर्ययुक्त परमात्मा को ही सब से ज्येष्ठ अथवा बड़ा स्वीकार करने वाले देव (प्रतरं) अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ (वावृधुः) वृद्धि को प्राप्त करते अथवा उन्नति करते हैं। इस मन्त्रमें देवों की प्रकृति के विषयमें निम्न लिखित बातें कही हैं—

(१) देव अहिंसामय व्यवहार का बोध कराते हैं।

(२) वे सदा सत्यका ही पक्ष लेते हैं।

(३) स्वयं ज्ञानी होते हुए वे अन्यों को ज्ञान देते हैं। इन मन्त्रों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर देवों के जो विशेषणादि आये हैं अब उन का थोड़ासा, विचार करेंगे। ऋ. १० । ६३ । ४ में देवों के लिये " नृचक्षसः, अनिमिषन्तः, ज्योतीरथाः, अनागसः " ये शब्द आये हैं जिन के द्वारा देवों की प्रकृति के विषय में निम्न सूचना मिलती है।

(१) नृचक्षसः- मनुष्यों के व्यवहार का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने वाले और उन्हे शिक्षा देने वाले।

(२) अनिमिषन्तः— कभी प्रमाद न करने का भाव इस शब्द के अन्दर है लोकहित में देव लोग कभी आलस्य प्रमाद नहीं करते यह तात्पर्य है।

(३) ज्योतीरथाः— प्रकाश रूपी रथ पर देव लोग बैठते हैं अर्थात् आन्तरिक ज्योति आत्मिक प्रकाश को प्राप्त कर के सदा उस के आश्रयसे वे सब कार्य करते हैं। रथ का अर्थ रमण करने वाला भी हो सकता है।

(४) अनागसः— अपराध अथवा पाप रहित सदा धर्म मार्ग पर चलने वाले ।

ऋ. १० । ६३ । में देवों के लिये 'प्रचेतसः' तथा 'विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रचेतसः का अर्थ ज्ञानी स्पष्ट ही है। मन्तवः यह शब्द मन् धातुसे बना है जिस का अर्थ मनन करना अथवा अच्छी प्रकार विचार करना है। वाक्य का अर्थ यह होगा कि जो (स्थातुः) स्थावर,(जगतः) जंगम (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् के (मन्तवः) हित का विचार करने वाले हैं।

ऋ. १० । ६३ । १२ में "आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये" ये शब्द आये हैं जिन में देवों से प्रार्थना है कि हे (देवाः) ज्ञानियो ! (द्वेषः) द्वेषभाव को (अस्मद्) हमारे से (आरे युयोतन) निकाल कर दूर फैंक दो और (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नः) हमें (उरु शर्म यच्छत) बडे उत्तम सुखका दान करो। इस प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय है कि देव लोग किसी से द्वेष नहीं करते इसी लिये उनके लिये अनेक स्थानों पर अद्रुहः आदि शब्द आये हैं। अथर्व वेदमें स्पष्ट ही-

'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
देवा इवामृतंरक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।'

आदि मन्त्रों द्वारा देवों की अद्रोह--प्रेम की प्रकृति का वर्णन किया गया है। ऋ. १० । ६४ । ७ में देवों के विषय में कहा है 'ते

हि देवस्य सवितुः सवीमनी क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः॥"
जिसका अर्थ यह है कि (ते) वे देव (हि) निश्चयसे (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक जगदीश्वर की (सवीमनि) शरण में रहते हुए (सचितः) ज्ञानसम्पन्न और (सचेतसः) समान चित्त अर्थात् परस्पर प्रीति भाव को धारण करते हुए (क्रतुं सचन्ते) शुभकर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि सब के सब देव एक ही परमेश्वर की उपासना करते और परस्पर प्रेम-भावको धारण करते हुए परोपकारार्थ उत्तम कर्मों के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं।

ऋ. १० । ६५।३ में देवों के लिये 'ऋतज्ञाः ऋतावृधः सुमित्र्याः' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है जिन के अन्दर निम्न भाव है-

(१) देव ऋत अर्थात् सत्य अथवा अटल प्रकृति नियमों को जानने वाले हैं।

(२) देव सत्यको जानते हुए उसी की सदा वृद्धि करते हैं वे सत्यके ही पक्षपाति हैं।

(३) देव सब के साथ मित्रता धारण करते हैं उन की मित्रता सच्ची मित्रता होती है जिस का उद्देश्य दूसरों को उन्नति मार्ग पर चलाना है।

ऋ. १० । ६५ । ६ में देवों के विषय में 'ऋतावृधः ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते' ऐसा कहा है। ऋतावृधः की व्याख्या की जा चुकी है, दूसरे शब्दों का अर्थ यह है कि देव लोग ऋत अर्थात् जगत् में कार्य करने वाले अटल नियमों के योनि मूल कारण वा व्यवस्थापक परमेश्वर का सदा चिन्तन करते रहते हैं।

ऋ० १० । ६५ ।११ में 'आर्यव्रता विसृजन्तो अधिक्षमि' ये शब्द देवों के बारेमें आये हैं जिन का तात्पर्य यह है कि (१) देव लोग आर्य अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ सदाचारी हैं।

(२) देव (अधिक्षमि) पृथिवी पर (व्रता विसृजन्तः) उत्तम सत्य भाषणादि व्रतों का विशेषरूपसे पालन करने वाले हैं।

मन्त्र १४ में देवों को 'अमृता ऋतज्ञाः, मनोर्यजत्राः, रातिषाचः, अभिषाचः, स्वर्विदः' इन शब्दों से पुकारा गया है। पहले दो की व्याख्या हो चुकी है शेषका अर्थ इस प्रकार है-

"मनोः यजत्राः" =मनुष्य मात्र के पूजनीय।

रातिषाचः = दानी (रा- दाने)

अभिषाचः = सज्जनों के साथ अच्छी प्रकार मिलनेवाले [पच-समवाये]

स्वर्विदः= सुख किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इस बात को जानने वाले।

इन सब विशेषणों पर विचार करना चाहिये।

ऋ० १०।६७।२ में देवों के लिये 'ऋतं शंसन्तः, ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः॥' ये शब्द आये हैं, जिन का भाव यह है कि (१) देव लोग सदा सत्यका उपदेश करते हैं, (२) कुटिलताका परित्याग करके वे ऋजु अर्थात् सरल मार्ग का ही सदा निरन्तर ध्यान करते हैं, (३) वे प्रकाशके पुत्र हैं और स्वार्थ भाव रूपी असुर के वीर अर्थात् मारने वाले हैं। प्रकाश पुत्र से अभिप्राय आत्मिक ज्योति और विद्यारूपी प्रकाशसे मालूम होता है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डलके ३ य सूक्त के सातवें मंत्र में देवों के विषयमें निम्न लिखित शब्द आये हैं-

"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥"

इस मन्त्रमें कहा है कि देव लोग (ओमासः) सब की रक्षा करने वाले होते हैं, (अव-रक्षणे) (२) देव लोग चर्षणीधृत

अर्थात् सब मनुष्यों को धारण करने वाले होते हैं। चर्पणी का अर्थ मनुष्य निरुक्त में दिया ही है।

(३) देव (दा-श्वांसः) दान शील होते हैं। देवों के ये ३ तीन गुण भी ध्यान में रखनें योग्य हैं। ऋ १।३।५ में "विश्वेदेवासो अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः॥" ये शब्द आते हैं, जिन में देवों को अप्तुरः कहा है। इस शब्दका अर्थ कर्मशील है, अप्=कर्म, तुर=त्वरा करने वाले। तूर्णयः में फुर्तीले का भाव है। ऋ १।३।९ में "विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः॥" ये शब्द हैं जिन में देवों के विषय में कहा है, कि वे (१) अहिंसक होते हैं। अस्रिधः का अर्थ अहिंसक प्रसिद्ध ही है। (२) वे कर्म शील होते हैं। श्रीस्वामी दयानन्द जी ने इस पदका 'आसमन्ताच्चेष्टायां माया-प्रज्ञा येषां ते' अर्थात् कार्य करने में जिन की बुद्धि लगी रहती है ऐसे, यह अर्थ किया है। अस्रिधः का अर्थ उन्हों ने अक्षयविज्ञान युक्त किया है। (३) देव 'अद्रुहः' अर्थात् द्रोह रहित होते हैं।

इन सब वेद में आये हुये देव विषयक वर्णनों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि देवों की प्रकृति का श्रीकृष्ण महाराज ने भगवद् गीता के १६ वें अध्याय में जो वर्णन किया है वह वेद के ही अधार पर है। अनेक गुणों का आधार वेद में से यहां दिखाया गया है, शेषका भी दिखाया जा सकता है, पर अत्यन्त विस्तार के भयसे यहां अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। भगवद् गीता के श्लोकों को एक बार फिर उद्धृत करके अगले विषय का विचार किया जायगा।

"अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्॥

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

इन श्लोकों के अन्दर निर्भयता, चित शुद्धि, ज्ञान कर्म, दान, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य अक्रोध आदि को देवों की प्रकृति का आवश्यक अङ्ग माना गया है वही वेद का तात्पर्य है। पुराणों में वर्णित गाथाएं देवों के जिस स्वभाव का परिचय देती हैं वह सर्वथा अवैदिक और अनेक स्थानों में घृणित है। अस्तु तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के देवों की पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञ का अर्थ है। यही वेद के अनुसार 'प्रथम धर्म' अथवा मुख्य कर्तव्य है। "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥"

अब संगति करण का थोडासा विचार करना आवश्यक है। वेद में इस विषय में बहुत ही उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। वेदके अनुसार व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है और इसलिये समाज की उन्नति के लिये अपनी संपूर्ण शक्तियों को लगा देना सब का प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्यके लिये 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानोंपर प्रयोग किया गया है जिस का अर्थ समुदाय अथवा संघ प्रिय है, इस से मनुष्य सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋ. १० । १९१ में संगतिकरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अत्युत्तम उपदेश किया गया है जिन में मिल कर जाने अर्थात् उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यत्न करने, मधुर वाणी बोलने और मनको उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने वा ज्ञान सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। इसी सच्ची एकता के भाव को देखिये अथर्व के निम्न लिखित मन्त्रोंमें कितनी उत्तमतासे प्रकट किया गया है-

(१) "सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥

अर्थात् (वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (संपृच्यन्ताम्) मिले हुए हों (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिले हुए हों (व्रता) शुभ कर्म अथवा सत्यभाषणादि विषयक निश्चय (समु) अविरोधी एक रूप हों । (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान के स्वामी आचार्य अथवा परमेश्वर ने और (भगः) ऐश्वर्य शाली भगवान् ने (वः) तुम्हें (समजीगमत्) मिलाया है। केवल ऊपर की एकता से कुछ नहीं बन सकता, जब तक हमारे मन एक न हों, जब तक सभी सत्यभाषण देशसेवादि का व्रत न लें, तब तक सच्ची एकता कभी स्थापित नही हो सकती । इसी लिये वेद में मन के अविरोधी होने पर इतना बल दिया गया है । इस के अगले ही मंत्र में कहा है "संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः" अर्थात् तुम्हारे मन और हृदय का मिलाप होवे ! इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में फिर देवों की परस्पर प्रीति का वर्णन करते हुए 'इमान् जनान् संमनसस्कृधीह:, " यह प्रार्थना है जिस का अर्थ यह है कि इन सब पुरुषों को समान मन वाला बनाओ। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद दोनों में 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वःसुसहासति ॥' यह मन्त्र आया है जिसके अन्दर फिर संकल्प,हृदय और मन की समानता पर बड़ा जोर दिया गया है । यह बात विशेष तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में एकताका उपदेश करते हुए सर्वत्र मन और हृदय के अन्दर एकता स्थापित करने पर बल दिया गया है ।

(२) ऋ० १।१९१।३ का ही मन्त्र अथर्व ६।६४।२ में थोडे पाठ भेदसे इस प्रकार आया है —

"समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥"

इस का अर्थ यह है कि (समानो मन्त्रः) सब पुरुषों का विचर समान हो (समितिः समानी) सभा समितियें सब समान हों। अर्थात् उन में प्रवेश करने का योग्यतानुसार प्रत्येक पुरुषको समान अधिकार हो (समानं मनः) सब का मन समान अथवा प्रीतियुक्त हो (एषाम्) इन सब मनुष्यों का (चित्तं समानम्) चित्त समान हो। मैं ईश्वर (वः) तुम सब को (समानेन हविषा जुहोमि) समानरूप से सब भोग्य पदार्थ पृथिवी जल वायु आदि देता हूं, इस लिये तुम सब (समानं चेतः) एकचित्त के अन्दर (अभिसंविशध्वम्) प्रवेश करलो अथवा एक दूसरेके साथ अपना चित्त ऐसा जोड दो कि शरीर अलग अलग होते हुए भी तुम्हारा एक ही चित्त मालूम होवे। सच्ची स्थिर एकताके भावको कितने जोरदार शब्दों में यहां बताया गया है इस को प्रत्येक विचारक स्वयं जान सकता है। अथर्व ३। ३० में संगति करणके विषयमें अत्यन्त प्रभावशाली उपदेश पाये जाते हैं उनमें से कुछ की व्याख्या की जा चुकी है शेष भी सुगम और सुप्रसिद्ध हैं अतः यहां इस प्रकरण का विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। वेदमें सभा समिति और संसद् इन तीन प्रकारकी सभाओं का स्पष्ट वर्णन आया है जिन से प्रायः ग्रामसभा, नागरिक सभा वा (municipality) और व्यवस्थापक सभा (council) का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार संगति करण पर संक्षेपसे विचार करनेके अनन्तर दान विषयक वेद के भावको देखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल के १०७ तथा ११७ वे दो सूक्त सम्पूर्ण रूपसे इसी दान की महिमा का वर्णन करने वाले हैं। कृपण पुरुषकी निन्दा करते हुए

ऋ. १०।११७।१ में कहा है कि 'उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते' अर्थात् (अपृणन्) दूसरोंका पालन न करके केवल अपना पेट भरने वाला पुरुष (मर्डितारं) सुख देने वाले को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता। स्वार्थी कञ्जूस मक्खी चूस की कोई सहायता नहीं करता यह उसका भाव है। दान देने वाले उदार पुरुषको दाना रूपी पुण्य के बदले में बहुत कुछ प्राप्त होता है। उसका सब जगह मान होता है, सब शुभकार्यों में संमिलित होनेके लिये उसे निमन्त्रण दिया जाता है, उत्तम उत्तम भोज्य पेय पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, विवाहके लिये सुन्दर कन्या उसे प्राप्त होती है, इस प्रकार दान करनेसे केवल सांसारिक दृष्टिसे भी बडा भारी लाभ होता है। इस बात को दोनों सूक्तों में बडे जोरदार शब्दोंमें बताया गया है। इन दोनों सूक्तोंमें दान से अभिप्राय न केवल द्रव्यके दान, बल्कि विद्या आदि के दान का भी है इसी लिये १०।११७।७ में कहा है "उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति" अर्थात् देने वाले का ऐश्वर्य कम नहीं होता किन्तु बढता ही है। यह बात विद्या दान के विषय में ही पूरे तौर पर घट सकती है। ऐश्वर्य कभी किसीके पास निरन्तर रहने वाला नहीं है आज एकके पास है तो कल दूसरेके पास चला जाता है। परसों तीसरे के पास, इस प्रकार रथ चक्रकी तरह धन का चक्कर चलता रहता है, इस लिये ऐश्वर्यको अनित्य समझ कर गरीब लोगों की सहायता के लिये उस का उपयोग करना चाहिये इस प्रकार करने से न केवल दूसरे का भला होता है बल्कि दूरदृष्टि से देखा जाए तो अपना भी बडा भारी लाभ होता है इस बातको ऋ. १०।११७।५ में—

"पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्तेह रायः॥"

इत्यादि मन्त्रों द्वारा बताया गया है। इतना ही नहीं, मं. ६ में

कहा है कि कृपण मूर्ख पुरुष के पास जो ऐश्वर्य आता है वह उसके नाश ही का कारण होता है । जो पुरुष अर्यमा अर्थात् न्यायप्रिय धर्मात्मा आदमियों को दान नहीं देता और न आपत्ति के समय मित्रों की धन द्वारा सहायता करता है वह अकेला धन का उपभोग करता हुआ पुरुष वास्तवमें पाप को खाता है। देखिये कितने कडे शब्दों में स्वार्थ के राक्षसी भाव की निन्दा की गई है । मैं समझता हूं कि " केवलाघो भवति केवलादी " यह उपदेश न केवल प्राकृतिक भोजन अथवा अन्य द्रव्योंके विषय में है बल्कि आध्यात्मिक भोजन वा Spiritual Food के विषय में भी है । जो पुरुष स्वयं आध्यात्मिक उन्नति कर के सन्तुष्ट हो जाता है और दूसरों के लाभ के लिये कोई काम नहीं करता वह भी मेरे विचार में वैसा ही पाप का भागी है जैसा कि अन्न और द्रव्यका केवल अपना पेट भरनेके लिये उपयोग करने वाला कृपण पुरुष। यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है अतः इसका यहां पूरा उल्लेख करना अनुचित न होगा ।

" मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादि ॥ "

इसी मन्त्र की अन्तिम पंक्ति के आशय को लेकर मनुस्मृति में-
" अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् " और गीता में-
" भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् "

ये श्लोक आये हैं इन सबका आशय समान ही है। ज्ञान सम्पादन करके जो पुरुष जंगल में जा समाधि लगा कर बैठ जाता है उसकी अपेक्षा उस यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने वाला तथा कृपणकी अपेक्षा उदार दानी पुरुष हजारों गुणा अच्छा और पूजनीय है। इस बात को १० । ११७ । ७ में साफ शब्दोंमें कहा है

" वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्, पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ॥

जिसका शब्दार्थ यह है कि (वदन्) उपदेश करने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी (अवदतः) उपदेश न करने वाले की अपेक्षा (वनीयान्) अधिक पूजनीय है (पृणन् आपिः) दान दे कर गरीबों को तृप्त करनेवाला (आपिः) सम्बन्धी (अपृणन्तम्) दान न देने वाला कंजूस को (अभिष्यात्) मातकर देता है उससे अधिक मानप्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

ऋ. १० । १०७ । ४ में कहा है कि जो दक्षिणा देकर सिद्धि को प्राप्त होता है उसे ही ऋषि ब्रह्मा यज्ञन्यं (याज्ञिक) सामगायी और वेदज्ञ वा ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

"तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥"
ऋ. १० । १०७ । ६

इस मन्त्र के अन्दर स्पष्ट तौर पर ब्रह्मदान का महत्व बताया गया मालूम होता है। जो पुरुष स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अथवा सामगानादि सीख कर अन्यों को उसका उपदेश देता है ता कि वे भी उससे लाभ उठा सकें वही सच्चा ऋषि विद्वान् याज्ञिक और ब्रह्मज्ञानी है न कि वह जो ज्ञान प्राप्त करके घने जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाता है। भगवद् गीता के छटे अध्याय में कृष्ण भगवानने-

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ।"

इत्यादि श्लोकोंद्वारा उपर्युक्त वैदिक भावको ही स्पष्ट किया है।

"लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥" गीता ५।२५

इस श्लोक को पहिले भी उध्दृत किया जा चुका है यहां ऋषियोंके लिये कहा है कि वे सब भूतों के हित में तत्पर होते हैं क्या

इसका यही तात्पर्य नहीं कि वे योगसाधनादि द्वारा दिव्य शक्ति शान्ति और ज्योति का अनुभव प्राप्त करके दूसरों के हितके लिये उनका उपयोग करते हैं, हमारी सम्मति में तो इस श्लोक का यही अभिप्राय है । दान अपना कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिये, मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के विचार से नहीं, तथापि राजस लोगों को दानादि में प्रवृत्त कराने के लिये वेद में ' दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति ' आदि प्रशंसात्मक वाक्य कहे गये हैं । किसी भी भाव से प्रेरित हो कर दान किया जाए अन्ततः दान करना धर्म है और दान न दे कर केवल अपना पेट भरना पाप और अनर्थ का हेतु है इस भावसे ऋ १० । १०७ । ३ में कहा है

" अथा नरः प्रयत दक्षिणासोऽवद्यभिया वहवः पृणन्ति ॥ "

अर्थात् (वहवः) वहुतसे (प्रयतदक्षिणासः) दान देने का सामर्थ्य रखने वाले पुरुष (अवद्यभिया) पापके भयसे अथवा अनर्थके डरसे (पृणन्ति) गरीवोंको पालते वा दान देते हैं । वहुत से मनुष्य केवल अनर्थ वा पाप के भय से दान करते हैं इसी से यह अर्थापत्ति निकलती है कि कुछ सात्विक पुरुष पापके भय से नहीं किन्तु केवल कर्तव्य समझकर ही दानादि पुण्य कर्म करते हैं । इस प्रकार भगवद् गीता के सात्विक राजस दानों का मूल यहां पाया जा सकता है। दान विना विवेक के नहीं होना चाहिये, किन्तु देश काल पात्रका विचार कर के ही करना चाहिये, ऐसा जो गीतामें सात्विक दान का लक्षण करते हुए कहा गया है वेद-में भी आध्राय, रफितायं, कृशाय, नाधमानाय इत्यादि शब्दों द्वारा जो वस्तुतः गरीव हों जो कृश हों और काम में असमर्थ होनेके कारण मांगने को वाधित हों, उन्हें अवश्य देना चाहिये । जो कठोर हृदय पुरुष ऐसे लोगों को भी दान नहीं देता और उन को तरसाता है उसे कभी कोई सुख देने वाला नहीं मिलता।

"स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते"

इत्यादि कह कर उसी भाव को सूचित किया गया है। केवल पात्रको ही दान देना चाहिये इसी भाव को प्रकट करने के लिये.

"न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्वः।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायम् ॥"

इत्यादि शब्द इस सूक्त में आये हैं जिन का अर्थ यह है कि अर्यमा अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों वा संस्थाओं की सहायता करना और आपत्ति के समय मित्रोंकी पूरी मदद करना यह प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार दानके विषय में वेद के अत्युत्तम उपदेशों का निर्देश करते हुए हम कुछ और सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करना चाहते हैं।

इस बातके विस्तार में यहां पर जाने की आवश्यकता नहीं कि वेदके अन्दर ब्राह्मणादि चार वर्णों में सारे समाज को बांटा गया है। यद्यपि ऐसे मन्त्र वेद में बहुत नहीं जहां ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन नामों से स्पष्ट वर्णों के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है तथापि अग्नि, इंद्र, मरुत्, पूषा आदि देव नामों से इन चारों वर्णों के कर्तव्योंका वेद में वर्णन किया गया है इस में सन्देह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—

"अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम् ॥"

इत्यादि मन्त्र में अग्नि पदसे ज्ञानी ब्राह्मण का ग्रहण ही सर्वथा उचित मालूम होता है। उस अवस्थामें अर्थ यह होगा कि (अग्निः) अग्नि के समान अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला ब्राह्मण (ऋषिः) तत्त्वदर्शी वा ज्ञानी (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला (पांचजन्यः) पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद

इन सब प्रकार के मनुष्यों का हित करने वाला (पुरोहितः) सत्योपदेष्टा अग्रणी वा नेता है ऐसे (महागयम्) बड़े बड़े भारी विद्यादि ऐश्वर्य सम्पन्न ब्राह्मण को हम सब (ईमहे) चाहते हैं वा उस से सत्योपदेश करने की प्रार्थना करते हैं।

मैं समझता हूं कि अग्नि का यहां ज्ञानी ब्राह्मण नेता ऐसा अर्थ करने पर मन्त्र की संगति बहुत अच्छी तरह लग जाती है। यह केवल मेरी मन-घडन्त कल्पना नहीं है।

अग्नि देवता विषयक मन्त्रों में इस बात के साफ निर्देश पाए जाते हैं कि वहां भौतिक अग्नि और परमात्माके अतिरिक्त इस ब्राह्मण अर्थका स्पष्ट ग्रहण अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ ऋ. ३।१।१७ में अग्नि को सम्बोधन करके कहा है-

"आ देवानामभवः केतुरग्ने, मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥

अर्थात् हे अग्ने, ज्ञानी ब्राह्मण तू (मन्द्रः) मृदु स्वभाव वाला और (विश्वानि) सम्पूर्ण (काव्यानि) काव्यों को (विद्वान्) जानने वाला हो कर (देवानाम्) अन्य साधारण विद्वानों का (केतुः) झण्डे के समान नायक (अभवः) हुआ है। यहां न तो भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है और ना ही मुख्यतः परमात्मा का किन्तु ब्राह्मण नेता का ग्रहण करने पर अर्थ बडा संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार ऋ. ३।२।८ में अग्नि के विषय में 'रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत्पुरोहितः॥" ये शब्द आये हैं जिसका अर्थ यह है कि अग्नि (बृहतः ऋतस्य विचर्षणिः) बड़े विस्तृत सत्य का प्रकाश करने वाला (रथीः) शरीर रूपी अपने रथ का पूर्ण स्वामी और (देवानाम्) विद्वानों का (पुरोहितः) नेता (अभवत्) है। इस मन्त्र का वर्णन भी भौतिक अग्नि और

परमात्मा पर पूर्णतया न घट कर के केवल ज्ञानी ब्राह्मण नेता पर ही ठीक तौर पर घटता है।

इसी तरह ऋ. ३६।४ में अग्निके बारे में कहा है—

"व्रता ते अग्ने महतो महानि, तव क्रत्वा रोदसी आततन्थ।
त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥"

अर्थात् हे ज्ञानी ब्राह्मण! (महतः ते) बडे ज्ञानादि गुण युक्त तेरे (महानि व्रता) बडे भारी कार्य हैं। तू (तव क्रत्वा) अपने कर्म से (रोदसी) दोनों लोकों में (आततन्थ) विस्तृत हो रहा है- तेरे यश का सब लोकोंमें विस्तार हो रहा है (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ तू (दूतः अभवः) दूत के समान उत्तम ज्ञान को सर्वत्र ले जाने वाला होता है और हे (वृषभ) अत्यन्त श्रेष्ठ गुणकर्मस्वभाव वाले ब्राह्मण! तू ही (चर्षणीनाम्) पुरुषोंका (नेता) नायक होता है। यहां भी अग्नि के विषय में जो वर्णन है वह केवल ज्ञानी ब्राह्मण पर ही घट सकता है, भौतिक अग्नि और परमात्मा पर नहीं। (४) ऋ. ३।११।१ में –

"अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः।
स वेद यज्ञमानुषक्॥"

यह मन्त्र आया है जिस में अग्नि के विषय में कहा है कि वह (१) होता अथवा हवनादि करने वाला है। (२) वह पुरोहित अथवा हिताहित का उपदेश करनेवाला है (३) वह अध्वर अर्थात् अहिंसामय सम्पूर्ण उत्तम व्यवहार का प्रकाशक है (४) वह यज्ञ के स्वरूप को अच्छी तरह जानने वाला है। यहां भी साफ है कि अग्नि का ज्ञानी ब्राह्मण अर्थ लेना ही सर्वथा योग्य है। इतने उदाहरणसे यह साफ पता लगता है कि वेद में अग्नि देवता के द्वारा प्रायः ब्राह्मण धर्मों का वर्णन किया गया है। (५) ऋ. १।१४९।५ में अग्नि के विषय में कहा है कि-

" अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वादधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश "

इस मन्त्र में अग्नि के लिये द्विजन्मा शब्द का प्रयोग आया है जो भौतिक और परमेश्वर पर नहीं घट सकता किन्तु निःसन्देह ब्राह्मण नेता पर ही चरितार्थ हो सकता है। सारे मन्त्र का अर्थ यह होगा कि (अयं यः द्विजन्मा) यह जो ब्राह्मण है (सः) वही (होता) हवनादि करने वाला अथवा दान देने और लेने वाला है (हु-दानादानयोरादाने च) यह ब्राह्मण (विश्वा) सब (श्रवस्या) कीर्तियुक्त (वार्याणि दधे) श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है (यः मर्तः) जो मनुष्य (अस्मै ददाश) इसे देता है उस को विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विवेचना से पता लगता है, कि मनुमहाराजने-

' अध्यापनमध्ययनं, यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥'

इत्यादि श्लोकों द्वारा ब्राह्मण के जो छः मुख्य कर्तव्य बताये हैं उसका आधार वेद मन्त्रों पर ही है। ऊपर उल्लिखित मन्त्रोंमें ये सब के सब धर्म आगये हैं। इस प्रकार के सच्चे ब्राह्मणोंकी पूजा करना सारे समाज का कर्तव्य है। ब्राह्मण स्वभावसे ही मृदु अथवा कोमल प्रकृति के होते हैं पर उनको ऐसा जानकर जो उसका अपमान करता है उस समाज और राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है इस बात को अथर्व पञ्चम काण्डके १८और१९ सूक्तों में बडे जोर दार शब्दों में बताया गया है। कां १० मं.३में कहा है,

"निर्वै क्षत्रं नयति हन्तिवर्चोऽग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥"

अर्थात् ब्राह्मण को जो तुच्छ मानता है वह मानो एक घोर विषका प्याला पीता है। अपमानित सच्चा ब्रह्मज्ञानी पुरुष दुष्ट

क्षत्रियों को अग्नि समान अपने तेज से दाह कर देता है । मं. ५ में और भी स्पष्ट रीतिसे मृदु स्वभाव परन्तु तेजस्वी ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के अपमान करनेका भयङ्कर परिणाम बताया है यथा-

"य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभ एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥"

अर्थात् जो पुरुष ब्राह्मणको कोमल स्वभाव समझकर स्वयं हिंसक नीच होता हुआ धनके मदमें अज्ञान से मारता वा अपमानित करता है (इन्द्रः) परमेश्वर उस पुरुप के हृदय में मानो शोकसन्तापरूपी अग्नि को जला देता है और उस पुरुष को सब पृथिवी के लोग घृणाकी दृष्टी से देखते हैं। इस मन्त्र में ब्राह्मणों का प्रकृतिसे कोमल होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जिस राष्ट्र में सच्चे तपस्वी, स्वार्थहीन ब्राह्मणों का अपमान होता है उस राष्ट्र की भी निश्चय से दुर्गति होती है इस विषयमें अथ. ५। १९। ८में स्पष्ट कहा है।—

"तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छना ॥"

अर्थात् (तद् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (भिन्नां नावम्) टूटी हुई नौका में (उदकम् इव) जल के समान (आस्रवति)वह जाता है चकनाचूर होजाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्माणम्) ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणको (हिंसन्ति) मारते हैं (दुच्छुना)दुर्गति (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र का (हन्ति) नाश कर डालती है। वह राष्ट्र जहां सच्चे ब्राह्मणों का अपमान होता है कभी देर तक उन्नत अवस्था में रह नहीं सकता । दुर्गति अथवा हीन अवस्था होते होते अन्तमें उसका सत्यानाश होजाता है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ' ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः ' इसी अर्थ को ले कर यहां ब्रह्मज्ञानी

के अर्थ ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है न कि जाति मात्रोपजीवी लागों की पूजा करने से इस का तात्पर्य है। अ० ५। ३५।५ में शस्त्र धारी ब्राह्मण लोग जो विचित्र प्रकार का वाण छोडते हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। तप और मन्यु (Indignation) के साथ छोडा जाने के कारण वह वडी दूर तक अपना असर करता है ऐसा वताया है, यहां भौतिक शस्त्र के अभिप्राय नहीं किन्तु आत्मिक बल अवलम्बन करते हुए जो स्वतन्त्रादि के संरक्षण के लिये यथा सम्भव अहिंसात्मक, परन्तु प्रभाव जनक साधन काम में लाये जाते हैं, । उन का तात्पर्य मालूम होता है। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

क्षत्रियों के कर्तव्य

इंद्र देवता के मन्त्रोंमें प्रायः क्षत्रियोंके कर्तव्यों का निर्देश किया गया है इस में वाद विवाद का वहुत ही कम अवसर है। उदाहरणार्थ ऋ॰ प्रथम मण्डल का ८० सूक्त देखिये जिस का देवता इंद्र है इस सारे सूक्त में नीच कपटी लोगों के साथ युद्ध करके प्रजा की रक्षा करने और उन की स्वतन्त्रता के संरक्षण करने के कारण ही इन्द्र की इतनी महिमा है इस वात को बार बार स्पष्ट किया गया है।" मं७ विशेष द्रष्टव्य है- 'इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्। यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥' हे इन्द्र बलशाली (वज्रिन्) वज्र धारण करने वाले (अद्रिवः) आदरणीय वीर (तुभ्यं वीर्यम् अनुत्तम्) तेरे अन्दर वडा भारी वीर्य रखा हुआ है। (यद् ह त्यं मायिनं मृगम्) कि तू ने उस कपटी और सज्जनों का पीछा करने वाले पुत्र अर्थात् पापी पुरुषका (मायया) वडी चतुरतासे (स्वराज्यम् अन्वर्चन्)स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रताके भाव की पूजा

करते हुए (अवधीः) मार दिया। माया के छल, बुद्धि ये दोनों अर्थ निघण्टु आदि में दिये हैं। कपटी पुरुषोंको मार कर स्वतन्त्रता संरक्षण करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है यह भाव यहां सूचित किया गया है।

यजु. अ. २० में इंद्र देवता के अनेक मन्त्र हैं प्रायः सब क्षत्रिय धर्म की सूचना देने वाले हैं। उदाहरणार्थ मं. ४८ में कहा है —

"आ न इन्द्रो दूरादा च आसादाभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥"

यहां इन्द्र के विषय में निम्न बातें कही हैं (१) इन्द्र उग्र अर्थात् कुछ कठोर स्वभाव का है। (२) वह अभीष्ट पूरा करने और रक्षण करने वाला है। (३) उस की भुजाएं वज्र के समान हैं अर्थात् वह बडा बलवान है (४) युद्ध में वह शत्रुओं का मुकाबला करने वाला है। ये सब सच्चे क्षत्रियों के लक्षण हैं। मं. ५० इस विषय में विशेष विचारणीय है जो इस प्रकार है—

"त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥"

इस मन्त्र में इन्द्रके निम्न लिखित विशेषण आये हैं।

(१) त्राता=रक्षा करने वाला।
(२) अविता=ज्ञानप्राप्त करने वाला। अव गतौ गति=ज्ञान, गमन, प्राप्ति,
(३) सुहवः=अच्छा दान देने वाला। हु-दानादानयोः
(४) शूरः=बहादुर
(५) शक्रः=शक्ति युक्त
(६) पुरुहूतः= बहुत से श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्वीकृत

(७) मघवा=धन युक्त ।

ये सब लक्षण मुख्यतः एक वीर राजा और क्षत्रिय परही घट सकते हैं।

अथर्व वेद में भी इन्द्र देवता के मन्त्रों में क्षत्रिय कर्तव्यों का बहुत उत्तम वर्णन है। उदाहरणार्थ अ २०। ११। ६ में कहा है।

" महो महानि पनयंत्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूरभिभूत्योजाः ॥"

अर्थात् इन्द्रके श्रेष्ठ उत्तम कर्मों की सब प्रशंसा करते हैं क्यों कि इन्द्र (वृजनेन) अपनी शक्ति से (वृजिनान्) पापियों को (संपिपेष) चूर चूर कर डालता है और (मायाभिः) चतुरता से (दस्यून् अभि भूति) नीच स्वार्थ परायण लोगों को हरा डालता है। तात्पर्य यह है कि नीच लोगों का नाश करके प्रजा का रक्षण करना ही प्रत्येक सच्चे क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। इसी भाव को अ. २०। ५५। १ में प्रकाशित किया गया है यथा—

" तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि। मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥"

इस मन्त्र में इन्द्र के लिये जो गुणद्योतक शब्द आये हैं उन का थोडासा निर्देश कर देना आवश्यक है।

१ मघवा=धन युक्त

२ उग्रः=कुछ कठोर प्रकृति युक्त अथवा थोडा तीक्ष्ण स्वभाव वाला।

३ सत्रादधानः = सत्य अथवा यज्ञका धारण करने वाला।

४ शवांसि दधानः = कीर्तिको धारण करने वाला।

५ गीर्भिः मंहिष्ठः = उत्तम वाणीवाला ।

६ यज्ञियः = यज्ञादि शुद्ध कर्म करने वाला अथवा पूजनीय ।

७ वज्री = वज्रादि शस्त्रास्त्र धारण करने वाला ।

इस मन्त्र में क्षत्रियोंके लिये उत्तम वाक् शक्ति कीर्ति इत्यादि को धारण करना भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार निःसन्देह इन्द्र देवता विषयक अनेक मन्त्र आधिभौतिक अर्थ में क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश करने वाले हैं।

वैश्यों के कर्तव्य ।

वैश्यों के कर्तव्यों का वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णन है। उदाहरणार्थ अथर्व ३ । १५ । २ में एक वैश्य के मुख से निम्न लिखित प्रार्थना उच्चारण कराई गई है ।

'ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सं चरन्ति।
ते जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥'

अर्थात् ' द्युलोक पृथिवी लोक के अन्दर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सब से मुझे घृत या दीप्ति और पय वा रस की प्राप्ति हो ता कि मैं दूर दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकत्रित करूं।' इस मन्त्र से पृथिवी पर चलनेवाले यानों केअतिरिक्त अन्तरिक्ष में चलने वाले विमानादि की कल्पना बहुत ही साफ तौर पर मालूम होती है। देवयानों द्वारा धन सम्पादन करनेसे तात्पर्य उत्तम धर्म युक्त साधनों द्वारा धन इकट्ठे करनेका भी मालूम होता है। इसी सूक्त के म० ३ में—

' शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु। '

ऐसी प्रार्थना है जिसका अर्थ यह है कि बेचने वगैरह में मुझे

घाटा न हो वल्कि मुनाफा वा लाभ हो। मं० ४ और ५ में जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारम्भ करता हूं उस में मुझे लाभ ही होता जाए और राजादिके द्वारा मुझे व्यापार के लिये और प्रोत्साहना मिलती रहे यह भाव प्रकट किया गया है। —

> ' येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥ '

इत्यादि मन्त्र इसी भाव के सूचक हैं। धनका सम्पादन करना अपने स्वार्थ के लिये नहीं वल्कि ब्राह्मणादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये होना चाहिये इस भाव को इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट किया गया है, जहां अग्नि के सम्बोधन करते हुए कहा है, कि-

> 'विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
> रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ '

अर्थात् ' (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण नेतः! जिस प्रकार अश्वको खाने के लिये घास वगैरह दिया जाता है उसी प्रकार हम (विश्वाहा) प्रतिदिन (सदमित्) नित्य ही (ते भरेम) तेरा पालन करते रहें। स्वयं धन की समृद्धि और अन्न से आनन्द करते हुए तेरे (प्रतिवेशा) प्रतिकूल हो कर (मा रिषाम) हम कभी दुःखी न हों।' तात्पर्य यह है कि धन के मदसे मस्त होकर पूज्य ब्राह्मणोंका तिरस्कार जो करते हैं उन्हें अन्त में अवश्य दुःख उठाना पडता है अतः ऐसे पूज्यों की पूजा करते हुए ही धनियों को सदा सुखी रहना चाहिये।

यजु. अ. १२ में मं. ६७ से ७१ तक हल चलाने वगैरह वैश्यकर्तव्यों का उत्तम वर्णन आया है। इन में —

'शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः॥'

इत्यादि मन्त्र विशेष दर्शनीय हैं जिन का अर्थ स्पष्ट है कि अच्छे हल द्वारा पृथिवी को सुख पूर्वक जोता जाए और भूमि जोत कर सुख पूर्वक रहें इत्यादि इस कृषि की महिमा में ऋ. १० । ३४। १३ में द्यूत की निन्दा करते हुए स्पष्ट आदेश किया गया है कि—

" अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः॥"

अर्थात् जुआ न खेलो किन्तु कृषि करते हुए आनन्द से धन सम्पादन करो। इस मन्त्र से न केवल वैश्यों अपि तु अन्योंको भी थोडी बहुत खेती करनी चाहिये यह भाव निकलता है। उस पर विचार करना चाहिये।

भगवद् गीता में कृष्ण महाराजने वैश्यों के कर्मों का प्रतिपादन करते हुए—

' कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् '

ऐसा कहा है। वेदके अनुसार कृषि और वाणिज्य का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। गोरक्षा के विषय में देखिये वेद में कितना उत्तम भाव प्रकट किया गया है। अथर्व४।२१ में गौओं की महिमा के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र आये हैं जिन में गौओं को बडी भारी सम्पत्ति बताया है यथा—

' गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छात् '

गौएं वास्तव में बडी भारी सम्पत्ति हैं राजादि भी इन गायों के दूधपर आश्रित होनेके कारण इन्हें चाहते हैं। म. ६में कहा है कि—

"यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु "

इस का अभिप्राय यह है कि 'हे गौओ! तुम कृश अर्थात् निर्बल पुरुष कोभी बलवान् बना देती हो तुम शोभा अथवा तेज से रहित पुरुष को तेजस्वी बना देती हो तुम सारे गृह को सुख मय बना

देती हो इस लिये सभाओं में सब पुरुष तुह्मारी वडी भारी महिमा गाते हैं।' जिन गौओंकी इतनी महिमा वेदमें अनेक स्थानों पर बताई गई है उन्हीं के मारने का वहां वर्णन होगा यह वात कल्पनामें भी नहीं आसकती है। वेदमें सर्वत्र गौओंके लिये अघ्न्या शब्द का प्रयोग आया है। ' शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ' ये शब्द हजारों मन्त्रों में आये हैं जो इस वात की स्पष्ट सूचना देते हैं कि न केवल गौओं की वल्कि सभी पशुओं की रक्षा करना सामान्यतः सभी वर्णों विशेषतः वैश्यों का कर्तव्य है। इस विषयमें अधिक लिखने की जरूरत नहीं।

शूद्रों के कर्तव्य।

शूद्रों के कर्तव्यों के विषय में यहां कुछ ज्यादह वक्तव्य नहीं है। 'तपसे शूद्रम्' कह कर यजुर्वेद अ. ३० में श्रम के कार्य के लिये शूद्र को नियुक्त करो यह आदेश किया गया है। इसी अध्याय में कर्मार नाम से कारीगर, मणिकार नामसे जोहरी, हिरण्यकार नाम से सुनार, रजयिता के नाम से रंगरेज, तक्षा के नाम से शिल्पी, वप नाम से नाई, अयस्ताप नामसे लोहार, अजिनसन्ध नाम से चमार, परिवेष्टा नामसे परोसने वाले रसोइये इत्यादि का वर्णन है। ज्ञान शम दम सत्यादि उच्च गुणों की इनके अन्दर कमी होती है अतः ये शिल्प या नौकरी द्वारा पहले तीन वर्णोंकी सेवा कर अपना पेट भरते हैं। इन चारों वर्णों के लोगों को एक दूसरे के साथ अत्यन्त प्रेमसे व्यवहार करना चाहिये। हरेक पुरुष को अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिये जिससे सब वर्णों के पुरुष उसको प्रेम से देखें

" प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥" अथर्व १९।६२।१

इत्यादि वेद मन्त्रों में इसी ऊपर कहे हुए भावको साफ तौर पर प्रकट किया गया है।

राष्ट्रीय कर्तव्य।

अब राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में थोडासा कथन करना है। वेदमें राष्ट्रीय भावकी कल्पना है इस से कोई भी निष्पक्षपात विचारक इन्कार नहीं कर सकता। सैंकडों स्थानों पर वेदोंमें भूमिके लिये माता शब्दका प्रयोग किया गया है। राष्ट्रके हित की ओर सभी वेदोंमें अनेक बार ध्यान आकर्षित किया गया है। ऋग्वेद मं० ५ में मरुतों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में जो अनेक सूक्त आए हैं उन में बार बार "पृश्निमातरः" यह मरुतों का विशेषण दिया है उदाहरणार्थ ५। ५७। २ में कहा है—

"स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥"

इसका अर्थ यह है कि मरुत् उत्तम अश्वरथ शस्त्रादि से युक्त और भूमिको अपनी माता मानने वाले अथवा मातृभक्त देशभक्त हैं। वे सदा शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं। ५।५९।६ में इन्ही मरुतों के बारे में कहा है।

"ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥"

इस मन्त्र में सबके सब मरुत अर्थात् मनुष्य समानता के सत्य सिद्धान्त को समझते हुए (उद्भिदः) सदा ऊपर उठते हुए (महसा) अपने तेज से (विवावृधुः) वैयक्तिक उन्नति करते हैं। वे सब (पृश्निमातरः) भूमि वा देशको माताके समान मानने वाले और (दिवो मर्याः) प्रकाशमय परमेश्वरके पुत्र अर्थात् परमेश्वरको अपना सच्चा पिता मानने वाले हैं। इस प्रकार उनका अत्युत्तम जन्म है वे हमें प्राप्त होवें। यह भाव सूचित किया गया है।

ऋ॰ म. १० । १८ में कई मन्त्र मातृभूमि की स्तुति के विषय में आये हैं। उदाहरणार्थ म. १० में उपदेश है ' उपसर्प मातरं भूमिमेताम् ' (एतां) इस (भूमिं मातरम्) मातृ भूमि की (उपसर्प) सेवा करो। म.११में मातृ भूमिसे एक सच्चे भक्तकी प्रार्थना है—

"उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निवाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ "

अर्थात् हे (पृथिवि) मातृ भूमे (उच्छ्वञ्चस्व) तू हमें सदा उन्नत करके सुख दे (मा निवाधथाः) कभी हमें कष्ट न दे (अस्मै) इस भक्तके लिये तू (सूपायना सूपवञ्चना भव) उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली हो (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम करती है वैसे तू (सिच) हमें प्रेमकर (एनम् अभि ऊर्णुहि) इस भक्त को सब तरफसे सुरक्षित कर दे। मातृ भूमि के प्रति यह हार्दिक प्रार्थना है। ऐसे मन्त्रोंमें भूमि की एक जीवित जागृत देवी के रूप में कल्पना की गई है। जब तक हम पृथिवी आदि को केवल अचेतन वस्तु समझते हैं तब तक उसके साथ अपना आन्तरिक प्रेम सूचित नहीं कर सकते, अतः काव्य दृष्टि से वेदमें उपर्युक्त प्रकार के वर्णन को प्रधानता दी गई है। देवों का वर्णन करते हुए वेदमें-

' अप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि '

ऋ. १० । ६२ । ३ ये शब्द आये हैं; जिनका अर्थ है कि देव लोग अपने शुभ कर्मों से मातृभूमिके यशका विस्तार करते हैं। इस बातका पहले उल्लेख किया जा चुका है। अब यजुर्वेद में इस विषयको देखिये-

(१) यजु० २ । १० में ये शब्द आये हैं " उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम् " इन का भाव यह है कि मैं ने

पृथिवी वा देश को (माता उपहूता) माता के रूप में अपने हृदय में स्वीकार किया है (पृथिवी माता माम् उपह्वयताम्) मातृ भूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करे। प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे तो निःसंन्देह मातृ भूमि का हित होता है और पुत्रों का कल्याण होता है यह भाव ऊपर के मन्त्र में है।

(२) यजु० अ. ९ में निम्न लिखित मन्त्र आया है—

"अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ॥"

यहां देव अर्थात् ज्ञानी लोगों से प्रार्थना है (अस्मे) हमारे अन्दर (वः इन्द्रियम् अस्तु) तुम्हारे जैसी बलयुक्त इन्द्रियां हों (नृम्णम्) तुम्हारे जैसा धन हो (उत क्रतुः) और पुरुषार्थ करने का उत्साह हो (अस्मे वः वर्चांसि सन्तु) हमारे अन्दर तुम्हारे जैसा तेज हो (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माता= मातृ भूमि को हमारा नमस्कार हो। जिस मातृ भूमि के तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र हैं उस माता को हम नमस्कार करते हैं और साथ ही इन्द्रिय धन उत्साह तेज आदि को धारण करते हुए हम भी उस मातृभूमि की सेवामें तत्पर रहेंगे यह भाव यहां सूचित किया गया है।

(३) यजु० अ १० म. २३ में 'पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्' ये शब्द आये हैं जिन में पृथिवी को माता मानते हुए कहा है कि तू हमें कभी कष्ट न दे मैं तुझे कभी कष्ट न दूं। अभिप्राय यह है कि मैं कभी कोई ऐसा काम भूल कर भी न करूं जिस से मातृ भूमि का अहित हो इस प्रकार करने से मातृ भूमि द्वारा मेरा सदा कल्याण होगा इस में सन्देह नहीं।

(४) यजु० अ. १७ मं. ३ में प्रार्थना है—

"अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु॥"

यहां अपने देश के वीरों के विजय की कामना करते हुए मातृभूमि के प्रति प्रेमका भाव सूचित किया गया है।

(५) यजु० अ. २२ का. २२ वां मन्त्र वैदिक राष्ट्रीय भाव की कल्पना के विषय में अत्यन्त सुप्रसिद्ध है उस का केवल उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है।

"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।"

इत्यादि। इस मन्त्र में ब्राह्मण लोग हमारे राष्ट्रमें सच्चे ब्रह्मतेज का धारण करने वाले हों, क्षत्रिय शूरवीर वाण चलाने में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ बैल आदि से युक्त हों, स्त्रियां भी (पुरन्धिः) बहुत बुद्धि वाली और बहुत कर्म करने वाली हों यह प्रार्थना है। धी शब्द के निघण्टु में बुद्धि कर्म दोनों अर्थ दिये हैं। इस प्रकार जो प्रार्थना की गई है वह विशाल वैदिक राष्ट्रीयता के भाव की सूचना देती है।

अब अथर्व वेद के अन्दर पाये जाने वाले राष्ट्रीयता के भावों और कर्तव्यों पर दृष्टि दौडानी है।

(१) अथर्व तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त में राज्याभिषेक का वर्णन है।

" सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु "

" त्वा विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः "

इत्यादि से राजा के प्रजा द्वारा चुने जाने का भाव अत्यन्त स्पष्ट है। ग्रिफिथ महोदयने टिप्पणी में लिखा है Such passages show that the kingship was sometimes elective.

अ० ३।४।२ का भाषान्तर उन्होंने इस प्रकार किया है The tribesmen shall elect thee for the kingship. These five celestial regions shall elect thee इत्यादि। इस प्रकार जब राजा का चुनाव भी प्रजा द्वारा होता होगा तो प्रजा का राष्ट्रीय भाव कितना ऊंचा होता होगा इस की कल्पना की जा सकती है। अ. ३।५।२ में प्रार्थना है "अहं राष्ट्रस्याभी वर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥" अर्थात् मैं अपने इस राष्ट्र के अन्दर अत्यन्त श्रेष्ठ होऊं। प्रत्येक पुरुष को इस प्रकार सर्वोत्तम बनने की भावना धारण करनी चाहिये ता कि राष्ट्र उन्नत हो सके। अथर्व ३।८।१ में कहा है।

"अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्य दधातु"।

अर्थात् वरुण-सर्व श्रेष्ठ परमात्मा वा विद्वान्, वायु-बलवान् पुरुष, अग्नि-ज्ञानी नेता ये सब हमारे राष्ट्रको (बृहद्) बडा और (संवेश्यम्) शान्ति युक्त बनावें। ग्रिफिथ महोदय का भाषान्तर इस प्रकार है। Let Agni, Varuna and Vayu make our dominion tranquil and exalted.

इस मन्त्रके अन्दर राष्ट्र को उन्नत और शान्ति युक्त रखने का भाव साफ तौर पर पाया जाता है। (३) अथर्व ३।१९।५ के अन्दर ब्राह्मण पुरोहित प्रधानामात्य की हैसीयतसे निम्न लिखित शब्दों को उच्चारण करता है।

"एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥"

अर्थात् (अहम्) मैं (एषाम्) इन सब के (आयुधा) शस्त्रों को (संस्यामि) तेज करता हूं (एषां राष्ट्रं) इन के राष्ट्र को (सुवीरं वर्धयामि) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त करके उन्नत करता हूं। (एषां क्षत्रम्) इस देश के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (जिष्णु) विजय शील और (अजरम् अस्तु) अविनाशी हो (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी ब्राह्मण (एषां) इन देशवासियों के (चित्तम् अवन्तु) ज्ञान की रक्षा करें। यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्व पूर्ण निर्देशों से युक्त है। इस के अन्दर निम्न लिखित मुख्य तत्त्व हैं।—

(१) शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवस्था करना और राष्ट्रको वीर बना कर उन्नत करना ब्राह्मणोंका विशेषतः प्रधानामात्य का भी धर्म है।

(२) क्षत्रियों की शक्ति को बढाने की ओरप्रत्येक देशनिवासी का ध्यान होना चाहिये।

(३) प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिये।

(४) अथर्व ६ । ३९ । २ में निम्न लिखित प्रार्थना है।

"अच्छा न इन्द्र यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥"

अर्थात् हे परमेश्वर तू हम सब को यशस्वी बना। यशस्वी हो कर हम नम्रता से तेरी ही पूजा करें। (नः) हमें (इन्द्र जूतं) ऐश्वर्य युक्त धन धान्य सम्पन्न (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र को दे, ताकि (ते रातौ) तेरे दान में हम (यशसः स्याम) अत्यन्त यशस्वी होवें।

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र की जो प्रार्थना की गई है वह विशेष ध्यान देने योग्य है उस से वेद के अन्दर राष्ट्रीय हित की भावना को कितना महत्त्व दिया गया है इस बातका अनुमान

किया जा सकता है।

(५) अथर्व ७।६।२ के अन्दर मातृ भूमि को किस प्रकार उन्नत करने का यत्न करना चाहिये इस बात को निम्न शब्दों द्वारा बताया गया है।—

"महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं, सुशर्माणमदितिं सु-प्रणीतिम्॥"

इस मन्त्र में मातृ-भूमिके लिये निम्न विशेषण कहे हैं—

(१) सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्= उत्तमव्रत धारण करने वालों के ज्ञान की रक्षा करने वाली।
(२) तुविक्षत्राम्=बहुत क्षात्र बलसे युक्त
(३) अजरन्तीम्=जीर्णावस्था वा अवनतिको न प्राप्त होती हुई,
(४) उरूचीम्=अत्यन्त विस्तृत,
(५) सुशर्माणम्=उत्तम सुख देनेवाली
(६) अदितिम्=बन्धन रहित अर्थात् स्वतन्त्र,
(७) सुप्रणीतिम्=उत्तम नीति से युक्त।

इन सब विशेषणों का मनन करने से मातृभूमिके विषय में वैदिक कल्पना समझ में आसकती है। प्रत्येक पुरुष का चाहे वह किसी भी वर्णका हो यह कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त गुणोंसे मातृ भूमि को सम्पन्न करने के लिये अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करे। ग्रिफिथ महोदय ने इस मन्त्र का भाषान्तर इस प्रकार किया है।

We call for help the Queen of Law and order. Great Mother of all those whose ways are righteous far spread, unwasting, strong in her dominions, Aditi wisely leading, well protecting.

भावार्थ लग भग वही है जो ऊपर दिया गया है। अदिति का अर्थ यहां स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया गया उस का अर्थ

वन्धन रहित सुप्रसिद्ध है । यही मन्त्र यजुर्वेद में भी आया है ।

(६) अथर्वका १२ वां काण्ड सारा ही राष्ट्रीय गीत है । इस में मातृभूमि के प्रति जो प्रेम का भाव प्रकट किया गया है वह सब दृष्टियों से अद्भुत है ।

> "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
> सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।
> तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥"

इत्यादि मन्त्र बहुत ही शुद्ध मातृ भूमि के प्रति भक्ति भावका प्रकाश करने वाले हैं ।

> "ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
> ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥"

" इस ५६ वें मन्त्र में ग्राम, जंगल, सभा, समिति ,रण स्थल सर्वत्र प्रत्येक पुरुषको मातृ भूमिके हित का चिन्तन करना चाहिये यह बात साफ शब्दों में बताई है । इसी सूक्त के ६२ वें मन्त्र में मातृ भूमि को सम्बोधन करते हुए—

> दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

यह जो प्रार्थना है वह अत्यन्त शुद्ध देश भक्ति पूर्ण हृदय का उद्‌गार है जिस का तात्पर्य यह है कि (वयं) हम सब (प्रति बुध्यमानाः) ज्ञानी बनते हुए (तुभ्यं) तेरे लिये (बलिहृतः स्याम) आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की भी बलि वा आहुति देने को उद्यत रहें और तेरी सेवा करने के लिये (नः दीर्घमायुः) हमारी दीर्घआयु हो । इन मंत्रों की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा पहले भी की जा चुकी है, अतः यहां फिरसे मन्त्रों का विशेष विवरण करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती ।

इस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के बारे में वैदिक दृष्टि से बहुत कुछ विचार किया जा चुका है । यहां प्रश्न एक यह

उपस्थित होता है कि देवियों का भी इन सामाजिक वा राष्ट्रीय कर्तव्यों के अन्दर वेद के अनुसार हाथ होना चाहिये वा नहीं। इस विषय पर थोडा प्रकाश दूसरे परिच्छेद में डाला जा चुका है तो भी निम्न लिखित दो तीन और मन्त्रों पर इसके सम्बन्ध में विचार करना चाहिये।

(१) ऋग्वेद म. २ अ. ४१ में सरस्वती को सम्बोधन करते हुए कहा है।

"अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि, प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥"

अर्थात् हे (अम्बितमे) माताओं में श्रेष्ठ (नदीतमे) उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ (देवितमे) देवियों में श्रेष्ठ (सरस्वति) विद्यावती देवि (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम सब कुछ दुर्गुणों से युक्त हैं (अम्ब) हे मातः (नः प्रशस्तिम् कृधि) हमें इन दुर्गुणों वा बुराइयों से दूर करके उत्तम गुणी बनाओ। नद धातु का अर्थ शब्द करना धातु पाठ में दिया ही है। इस लिये मन्त्र का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि विदुषी स्त्रियों को दूसरों के दोषों को अपने उपदेशों द्वारा दूर करके सब को गुणी बनाने का अवश्य यत्न करना चाहिये।

(२) यजु० अ० २९। ३३ में निम्न मन्त्र आया है-

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

इस मन्त्र में भारती इडा सरस्वती इन तीन प्रकार की देवियों के नाम आये हैं। इन से कई विद्वानों ने मातृ भूमि, मातृ भाषा तथा मातृ सभ्यता इत्यादि अर्थों का ग्रहण किया है। वह भी उन का अर्थ हो सकता है किन्तु यहां उन अर्थों का ग्रहण करने पर मन्त्र का भाव विशेष स्पष्ट नहीं होता। मेरे विचार में यहां

भारती इडा सरस्वती पदों से २४, २०,१६ वर्ष की ब्रह्मचारिणियों का ग्रहण हो सकता है। इस के लिये इसी अध्याय के ८ वें मन्त्र में–

"आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं, सरस्वती सह रुद्रैर्व आवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥"

इस प्रकार जो आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मचारियों से इन का सम्बन्ध जोड़ा गया है वही आधार है पर इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। खैर इन तीनों पदों से ज्ञानादि गुण युक्त देवियों का ग्रहण है इतनी बात निर्विवाद है। तब अर्थ होगा कि (भारती) भरणपोषण का उपदेश करने वाली देवी (नः यज्ञं) हमारे सम्मेलन में (तूयम् एतु) शीघ्र आए (मनुष्वत्) मनन शील ज्ञानियों की तरह (चेतयन्ती) उत्तम बातों का बोध कराने वाली (इडा) उत्तम वाणी युक्त देवी यहां जल्दी आए। इसी प्रकार सरस्वतीपरम्परा प्राप्त ज्ञान से सम्पन्न विदुषी देवी यहां हमारे यज्ञमें संमिलित होवे। ये (स्वपसः) शुभ कर्म करने वाली (तिस्रः देवीः) तीनों तरह की देवियां (एमं) इस (स्योनं बर्हिः) सुख दायक आसन को (सदन्तु) अलंकृत करें इस मंत्र से साफ है कि पुरुषों के समान सत्यासत्य का उपदेश कर के कर्तव्यों का बोध करना देवियों का भी कर्तव्य है और सब सज्जनों का कर्तव्य है कि ऐसी योग्य देवियों को सभासम्मेलनों में विशेष रूपसे निमन्त्रण देवें।

(३) अथर्व ७। ४८। २ का निम्न मन्त्र भी यहां विचार करने योग्य है—

" यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ "

इस का अर्थ यह है कि हे (राके) पौर्णमासीके समान सब को आह्लादित करने वाली देवि! (याः ते सुमंतयः) जो तेरी उत्तम बुद्धि है और जो (सुपेशसः) उत्तम तेरा रूप है (याभिः) जिन से तू (दाशुषे वसूनि ददासि) श्रद्धालु भक्त को उत्तम ऐश्वर्य का दान करती है (सुमनाः) उत्तम प्रसन्न मन वाली तू (ताभिः) उन बुद्धि और रूपके साथ (नः उपागहि) हमारे पास आजा । हे सौभाग्यवति देवी! (सहस्त्र पोषं रराणा)अत्यन्त उत्तम पुष्टि को देती हुई तू हमारे समीप आजा । तात्पर्य यह है कि देवियों को अपने अन्दर उत्तम गुणों को धारण करते हुए दूसरों के उपकार के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये । लेख विस्तार के भय से इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक है । इन वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का हमें बार बार मनन करना चाहिये । प्रत्येक वेदानुयायी पुरुष और स्त्री को अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकाश करते हुए परोपकार में उन्हें लगा देना चाहिये । मातृ भूमि की सेवा करना प्रत्येक पुरुष का प्रधान धर्म है कभी कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये जिस से मातृ भूमि का अहित होता हो । इस प्रकार वैदिक आर्य जीवन बनाते हुए ही हम अपने जीवन को पूर्ण सुखमय बना सकते हैं अन्यथा नहीं ।

वैदिक कर्तव्यशास्त्र।

चतुर्थ परिच्छेद

वैदिक कर्तव्यशास्त्र पर तुलनात्मक विचार।

इस परिच्छेद में ईसाई और बौद्ध मत के ग्रन्थों की कर्तव्य शास्त्र विषयक कुछ उत्तम शिक्षाएं लेकर उन की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेपसे तुलना करनेका विचार है। बाइबल के पुराने और नये वसीयत नामे के नामसे दो मुख्य भाग हैं। इन में से पुराने वसीयत नामे में वस्तुतः कर्तव्यशास्त्र विषयक कोई उल्लेख-योग्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं पाई जाती। दस आज्ञाएं अन्यों की अपेक्षा कुछ उच्च कोटि की हैं उन का नीचे उल्लेख किया जाता है।

(१) परमेश्वरके आगे और किसी को देवता न मानना,
(२) कोई मूर्ति वा प्रतिमा तू ने न बनाना न उनकी पूजा करना,
(३) व्यर्थ परमेश्वर का नाम न लेना,
(४) साबाथ दिन को पवित्र रखना,
(५) तू ने किसी को न मारना.
(६) व्यभिचार न करना.
(७) चोरी न करना,
(८) अपने पडोसी के विरुद्ध साक्षि न देना,
(९) अपने माता पिता का सत्कार करना,
(१०) अपने पडोसी का घर, स्त्री, नौकर चाकर, बैल, गधा अथवा अन्य कोई भी चीज तू लेने की इच्छा न कर।

ये १० आज्ञाएं एक्झोडस नामक पुस्तक के २० वें अध्याय में पाई जाती हैं। इन आज्ञाओं में कोई अपूर्व अथवा विशेष महत्व पूर्ण बात नहीं है। इन में से ५, ६, ७, ८, और १० संख्या पर दी हुई आज्ञाएं क्रमशः अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य तथा अपरिग्रह का संकुचित रूप में उपदेश करनेवाली हैं। यहां यद्यपि न मारनें की सामान्य आज्ञा है तथापि लेविटिकस अ. ४. इत्यादि में साफ ही पापके प्रायश्चित के रूप में बकरी बकरे बैल इत्यादि की बलि चढानेका विधान है, इस लिये यहां वह व्यापक योगशास्त्रमें वर्णित अहिंसा तत्व नहीं जिसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास मुनिने कहा है "तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः"। वही बात ब्रह्मचर्यादि के विषय में भी सत्य है। अब गौतम बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को जो दस बुरी बातें छोडने का उपदेश किया था उसका यहां तुलनात्मक रीति से निर्देश किया जाता है।

१ किसीको न मारो पर जीवनके लिये आदर रखो,
२ चोरी न करो न लूटो किन्तु प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल का स्वामी बनने में सहायता दो,
३ अपवित्रता से दूर रह कर पवित्र जीवन व्यतीत करो,
४ असत्य न बोलो किन्तु सत्यवादी बनो। निर्भयता और प्रेम पूर्ण हृदय से विवेक पूर्वक सत्य बोलो,
५ दूसरों के दोष न देखते फिरो और न अपने साथियों के विषय में झूठी बातें घडते रहो,
६ शपथ न खाओ किन्तु प्रभाव जनक रूपसे उत्तम बात बोलो,
७ व्यर्थ बात चीत में समय न गंवाओ किन्तु उपयोगी बात बोलो अन्यथा चुप रहो,
८ लोभ और ईर्ष्या न करो किन्तु दूसरों के उत्तम भाग्य पर खुशी मनाओ।

९ अपने हृदय को दुष्ट भावों से और घृणा से सर्वथा दूर रखो शत्रुओंसे भी घृणा न करो किन्तु सब प्राणियोंपर दया करो।

१० अपने मन को अज्ञान से मुक्त करो और आवश्यक विषयों में सत्य जानने को उत्सुक रहो ताकि तुम सन्देह याअशुद्धि का शिकार न बनो ।

Gospel of Buddha by Paul Carles. पृ. १०६)

पुराने वसीयत नामे में दिये हुए आदेशों की अपेक्षा ये आदेश बहुत महत्व पूर्ण हैं, इस में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। इनमें अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रहका स्पष्ट उपदेश है। धम्मपद के निम्न लिखित दो श्लोक भी इस विषयमें उल्लेख योग्य हैं—

यो पाणमतिपातेति, मुसा वादं च भासति ।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति ॥१२॥
सुरा मेरय पानं च, यो नरो अनु युञ्जति ।
इधेव मेसो लोकस्मि, मूलं खणति अत्तनो ॥१३॥

ध. प. मलवग्ग.

इन श्लोकों में कहा है कि जो पुरुष दूसरे प्राणी के प्राण लेता है, जो असत्य बोलता है, जो पराये धन को लेता है, जो परस्त्री गमन वा व्यभिचार करता है और जो मद्यपान करता है वह पुरुष इसी लोग में अपनी जड खोदता है अर्थात् अपना नाश कर डालता है ।

नये वसीयत नामे में जीसस द्वारा प्रचारित कर्तव्य शास्त्र विषयक कई अत्युत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन है। उन का आधार अधिक तर बौद्ध ग्रन्थों पर मालूम होता है । यहां हम ४, ५ मुख्य तत्त्वों को लेकर बौद्ध और ईसाई शिक्षाओं की तुलना करेंगे और फिर किसी परिणाम पर पहुंचेंगे ।

(१) मैथ्यू अ० ७।३ –५ जीसस की निम्न लिखित शिक्षा दी है
Why beholdest thou the mote that is in thy brother's eye but considerest not the beam that is in thine own eye?

" Thou hypocrite, first cast out the beam of thine own eye and then shalt thou see clearly to cast out the mote out of thy brother's eye. "

इन दो वाक्यों में दूसरों के दोष देखने में अपना समय न नष्ट कर के पहले अपने दोष दूर करने चाहिये, फिर दूसरों की तरफ नजर डालनी चाहिये, यह भाव प्रकट किया गया है। इसी तत्वको प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में इन शब्दों में बताया गया है-

" न परेसां विलोमानि न परेसां कताकतम्।
अत्तनोऽव अवेक्खेय कतानि अकतानि च ॥७॥"

पुष्फ वग्ग

इस का अर्थ यह है कि दूसरों के विपरीत आचरण और किये हुए बुरे कर्मों की तरफ नहीं देखना चाहिये किन्तु अपने कामों की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये। मल वग्ग के-

" सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसम्।"

इत्यादि श्लोकोंमें भी दूसरों के दोष न देख कर बुद्धिमान् अपनेही दोषोंका पहले विचार करते हैं यह बात बताई गई है।

(२) मै० ७। १२ में जीसस ने एक अत्युत्तम कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्त्व का प्रतिपादन किया है जिसे स्वर्ण नियमके नामसे कहा जाता है। वह नियम निम्न शब्दों में बताया गया है।—
"All things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them, "

॥

अर्थात् तुम मनुष्यों से जैसा व्यवहार चाहते हो उन के साथ वैसा ही व्यवहार करो।

धम्म पद में इसी तत्व को इस प्रकार बताया गया है।

" सव्वे तस्सान्ति दण्डस्स, सव्वेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥"

धo पo दण्ड वग्ग

इस का अर्थ यह है कि सब पुरुष दण्ड से डरते हैं और सभी को जीवन प्रिय है इस लिये अपने समान सब को समझते हुए न प्राणियों को मारे और न मरवाए।

सुत्त निपात नालुक सुत्तमें भी इसी भावका यह श्लोक आया है-

"यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमां कत्वा, न हनेय्य न घातये॥"

ना. सु ॥ २७ ॥

अर्थात् जैसे मैं हूं वैसे ही ये सब प्राणी हैं इस प्रकार सब को अपने जैसा समझ कर न किसी को मारे न मरवाए इत्यादि ॥

यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ईसाई धर्म पुस्तक में इस अहिंसा तथा आत्मौपम्यदृष्टि को संकुचित रूप में ही स्वीकार किया गया है। पशुहिंसा का उस में स्पष्ट निषेध नहीं, जैसा कि बौद्ध ग्रंथमें दिये हुए श्लोकों में है।

महाभारत शान्ति पर्व २५८। १९, २१ में इसी तत्व को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। यथा--

"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥"

इन श्लोकों का भाव वही है जो ऊपर दिये हुए श्लोकों का है।

दूसरों से तुम जैसा व्यवहार नहीं चाहते, दूसरों के साथ भी उस तरह का व्यवहार न करो इत्यादि। वेद में इस का मूल दिखाया जा चुका है।

(३) मै. ५। ४४ में जीसस ने निम्न लिखित शिक्षा अपने शिष्यों को दी है—

"love your enemies, bless them that curse you, do good to them that hate you and pray for them which despitefully use you and persecute you."

अर्थात् अपने शत्रुओं से प्रेम करो। जो तुम्हें शाप देवें उन को आशीर्वाद दो, जो तुम से घृणा करते हैं, उन के साथ भी भलाई करो, जो तुम्हारे पर अत्याचार करते हैं, उन के लिये भी प्रार्थना करो इस शिक्षा के अत्युत्तम होने में कोई सन्देह नहीं पर निम्न लिखित वाक्यों से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह शिक्षा कोई अपूर्व नहीं।

धम्मपद कोधवग्ग में बुद्ध भगवान् ने कहा है--

(१) अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन आलिक वादिनम्॥ ३॥

अर्थात् क्रोध को अक्रोध के द्वारा जीतना चाहिये, दुष्ट को साधु व्यवहार के द्वारा जीतना चाहिये, कृपण को दान के द्वारा और झूठ बोलने वाले को सत्य के द्वारा जीतना चाहिये।

ब्राह्मण वग्गमें बुद्ध भगवान् ने इसी तत्वका प्रतिपादन करते हुए कहा है।-

(२) अक्कोसं वधबन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्ति बलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्॥ १७॥

अर्थात् दूसरों के दिये हुए गाली गलौच आदि को जो अदुष्ट भाव से सहन करता है, क्षमा ही जिस का बल और सैन्य है उस

को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

(३) सुख वग्ग में निम्न लिखित श्लोक आया है—

" सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥ "

जिस का अर्थ यह है कि शत्रुओं के साथ भी शत्रुता न करते हुए हम सब सदा सुख से जीवन व्यतीत करें '

(ध. प. सुखवग्ग.)

(४) धम्म पदके प्रथम ही यमकवग्गमें इसी अवैर तत्व को बताते हुए कहा है-

"नहि वेरेण वेराणि, समन्तीध कदाचन ।
अवेरेण तु सम्मन्ति, एस धम्मो सनातनो ॥ "

अर्थात् वैर करनेसे कभी वैर शान्त नहीं होता किन्तु अवैर से ही शान्त होता है यही सनातन धर्म है ।

मनुस्मृति में ' क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥ ' अ. ३ । ४८ ब्राह्मण सन्यासी के धर्म बताते हुए कहा है कि वह क्रोध करने वाले के भी प्रति क्रोध न करे, गाली देने पर वह आशीर्वाद देवे । महाभारत उद्योग पर्व में--

"अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम् ।"

यह श्लोक आया है जिस का धम्म पद से उल्लेख किया जा चुका है । इस तरह उत्तम होने पर भी यह शिक्षा सर्वथा नवीन नहीं यह बात साफ है । शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इस विषय में वेद का जो मत है उस का आगे इसी अध्याय में उल्लेख किया जाएगा ।

(४) मै. ५ । ६, १० में जीसस ने शिष्यों के प्रति कहा है ।

" Blessed are they which do hunger and thirst

after righteousness ...Blessed are they that are persecuted for righteousness' sake; for theirs is the Kingdom of heaven. अर्थात् जिन लोगों को धर्मके लिये कष्ट उठाने और अत्याचार सहन करने पडते हैं वे लोग धन्य हैं।

धम्मपद पण्डित वग्ग में बुद्ध भगवान् ने पण्डितों अथवा बुद्धिमानों का स्वभाव बताते हुए कहा है—

" सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति। न अत्त हेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं। न इच्छे अधम्मेन समिद्धिमत्तनो, स सीलवा पञ्जवा धम्मिको सिया ॥ ९ ॥

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो सुख हो वा दुःख हो सदा एक रूप रहते हैं और किसी तरह का विकार नहीं सूचित करते। जो पुरुष न अपने लिये न दूसरों के लिये या पुत्र धन अथवा राष्ट्र की प्राप्ति के लिये अधर्म करता है। जो कभी अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता वही सदाचारी और धर्मात्मा है। तात्पर्य यह है कि सदा धर्म का ही पालन करना चाहिये कितनी भी आपत्ति क्यों न आए, कितना बडा प्रलोभन क्यों न सामने उपस्थित हो, पर धर्म को नहीं छोडना चाहिये। वेद में सदा ऋत सत्य के मार्ग पर चलने से ही कल्याण हो सकता है इस तत्व का ' सुगः पंथा अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः ॥ ' इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन किया है। किस प्रकार देव अर्थात् ज्ञानी लोग सदा सत्य के ही व्रत का पालन करते हैं यह बात " ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ॥" इत्यादि मंत्रों की व्याख्या करके अनेक स्थानों पर दिखाई जा चुकी है, अतः फिर उन मंत्रों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ऊपर के मंत्र में देवों

को अनृतद्विषः अर्थात् un - righteousness का घोर द्वेषी बताया है यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। इस विषयं में महाभारत के—

' न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। '

इत्यादि वचन भी स्मरण करने योग्य हैं जिन में काम भय लोभ के वश में होकर और यहां तक कि अपने जीवन तक की रक्षाके लिये भी धर्म को नहीं छोडना चाहिये यह साफ शब्दों मे बताया गया है।

(५) मै. अ. २३ में जीससे ने उस समय के याजक पुरोहित लोगों को धमकाते हुए कहा है-

" woe unto you, Scribes and Pharisees, hypocrites for ye make cleanse the outside of the cup but within they are full from extortion and excess "

अर्थात् तुम्हें धिक्कार है ऐ दम्भी लोगो! तुम प्याले के बाहर खूब मांज लेते हो पर उसका अन्दर का भाग मैल से भरा रहता है। इस प्रकारके वाक्यों में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि बहुत आवश्यक है इस बात को सूचित किया गया है। धम्म पदमें भगवान् गौतम बुद्ध ने भी सर्वत्र बाह्य चिन्हों और आडम्बरों को तुच्छ बताते हुए अन्दरूनी शुद्धि पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वग्ग श्लोक १२ में कहा है-

"किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिन साटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥"

अर्थात् 'ऐ मूर्ख! जटाओं और चर्म वस्त्रादिसे तेरा क्या बनेगा? तेरे अन्दर तो बडा मैल भरा हुआ है बाहेर से तू शुद्ध दिखाई देता है।' भाव में समानता स्पष्ट है।

दण्ड वग्ग श्लो. १३-१४ में इसी आंतरिक शुद्धि के भाव को प्रधानता देते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है कि नग्न चर्या, जटा, उपवास, यज्ञवेदिमें शयन इत्यादि उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सकते जिस ने तृष्णा का परित्याग नहीं किया। इसके विपरीत जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ शान्त दान्त सब भूतों पर दया दृष्टि रखता हुआ वस्त्रादि से सुशोभित हो कर भी विचरण करता है वही ब्राह्मण श्रमण और भिक्षु है। वेद के अन्दर- 'भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्,' 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु,' 'अगन्महि मनसा सं शिवेन मागन्महि मनसा दैव्येन' इत्यादि मंत्रों द्वारा साफ शब्दोंमें मन की पवित्रता पर ही अधिक जोर दिया गया है। अच्छे वस्त्रादि धारण करने का वेद में न केवल कहीं निषेध नहीं किया गया बल्कि 'युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः॥' इत्यादि द्वारा अच्छे वस्त्र धारण करने को भी एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

(६) मै. ६। १९ के अनुसार जीसस ने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहा है-

"Lay not up for yourselves treasures upon earth"

अर्थात् अपने लिये तुम कोई भौतिक खजाना न रखो। अ, १०। ९ में—

"Provide neither gold, nor silver nor brass in your purses,"

इस में भी उसी बातको फिर दुहराया है। एक दुसरे स्थान पर उस ने यहां तक कहा है कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग वा ईश्वर राज्य में जाने की अपेक्षा ऊंटका सुई की नोक में से निकलना सुगम है।

भगवान् गौतम बुद्धने भी धम्म पदमें अनेक स्थानों पर इसी बात का उल्लेख किया है यथा ब्राह्मण वग्ग में कहा है-

" अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् " ॥ १४ ॥

अर्थात् जिस के पास कुछ धन नहीं और-

" यस्य पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किंचनं।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ "

अर्थात् जिस के पास पूर्व पश्चिम और मध्य में कुछ भी धन नहीं है तिस पर भी जो दूसरों से धन नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं ॥ इस प्रकार इन दोनों भावों की समानता है। अन्य भी निष्काम भावादि अनेक विषयों में बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों की शिक्षाओंकी समानता दिखाई जा सकती है पर निबन्ध विस्तारके भय से इस समानता के विषय को हम नहीं समाप्त करते हैं। अब बौद्ध धर्म के कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्वों की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना करेंगे जिससे इन दोनों का सम्बन्ध निश्चय करने में कुछ सहायता मिल सकेगी।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की मूलभूत दो बातों का निर्देश करना यहां आवश्यक है (१) चार आर्य सत्य (२) आर्य अष्टांग मार्ग ॥ धम्म पद बुद्ध वग्ग में इनका इस प्रकार निर्देश किया गया है—

"चत्तारि अरियं सच्चानि सम्मपञ्ञा य पस्सति ॥
दुःखं दुःखसमुत्पादं दुक्खस्य च अतिक्कमं।
अरियं चऽठुङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥ १३ ॥
एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्ब दुक्खा प्रमुच्चति ॥ १४ ॥

इन श्लोकों में बताये हुए ४ आर्यसत्य निम्न हैं-

(१) संसार में दुःख है।

(२) दुःखका मूल कारण तृष्णा है।

(३) तृष्णा के नाश से ही दुःखका निरोध हो सकता है।

(४) दुःख के नाशके लिये अष्टाङ्ग मार्ग बौद्ध ग्रंथों में निम्न प्रकार बताया है—

(१) सम्मा दिट्ठि= (सम्यग् दृष्टि) ठीक दृष्टि वा ज्ञान।

(२) सम्मा संकल्प= (सम्यक् संकल्प) शुद्ध संकल्प।

(३) सम्मा वाचा = शुद्ध वाणी।

(४) सम्मा कम्मन्त = शुभ कर्म।

(५) सम्मा आजीव = शुद्ध आजीविका।

(६) सम्मा व्यायाम = शुद्ध व्यायाम वा परिश्रम।

(७) सम्मा सति = शुद्ध विचार।

(८) सम्मा समाधि = शुद्ध ध्यान वा मन की शान्त स्थिति।

बुद्ध भगवान् ने इन सत्यों को आर्य सत्य और इस मार्ग को आर्य अष्टाङ्ग मार्गका नाम दिया है। पंडित वग्ग श्लो. ४ में कहा है—

"अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पंडितः।"

अर्थात् पंडित सदा 'आर्य प्रवेदित' अथवा आर्यों द्वारा बताये हुए धर्म में रमण करता है। मग्ग वग्ग श्लो. ९ में कहा है कि—

"वाचानुरक्खीमनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिर।
एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्ग मिसिप्पवेदितं॥"

इसका अर्थ यह है कि वाणी मन शरीर किसी से कोई पाप न करे और सदा 'ऋषियों द्वारा बताये हुए मार्ग' पर चलता रहे। इसका संस्कृत रूप 'आराधये मार्गमृषिप्रवेदितं' है जिस का अर्थ यह है कि ऋषि प्रोक्त मार्ग पर चले। इससे यह बात स्पष्ट है कि

यह अष्टाङ्ग मार्ग जिसका यहां उपदेश किया गया है कोई नवीन नहीं किन्तु वैदिक साहित्य से ही लिया हुआ है। तुलनात्मक विचार करने पर हमें साफ़ मालूम होता है कि कर्तव्यशास्त्र विषयक गौतम बुद्ध की शिक्षाओंका आधार प्रायः पतञ्जलि मुनिके योग-दर्शन पर है। पांच यमों के अनुसार दसों आज्ञाओं का निर्देश किया जा चुका है। ४ आर्य सत्योंका मूल भी योगदर्शन के-

"परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' प्रकृति पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्" इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट पाया जाता है। व्यास मुनि-ने अपने भाष्यमें 'एवमिदमपि योगशास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपायः' यह कह कर बिल्कुल स्पष्ट आर्य सत्योंका प्रतिपादन किया है। सम्यग्दर्शनादि के विषयमें भी व्यास मुनिका लेख योगभाष्यमें देखने योग्य है 'तदेवमनादि दुःखस्रोत-सा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं 'सम्यग्दर्शनं' शरणं प्रतिपद्यते॥ (साधन पाद सू० १५ का व्यास भाष्य) यहां सम्यग्दर्शनको सर्व दुःख नाश का कारण बताया है। इसी को बुद्धने सम्मादिट्ठिका नाम दिया। योगदर्शनके ही आधार पर गौतम बुद्धने इन आर्य सत्यों और अष्टाङ्ग मार्गादि का उप-देश किया, इसके लिये अन्य भी अनेक प्रमाण पेश किये जा सक-ते हैं, उदाहरणार्थ दण्ड वग्गमें दुःखसे छूटनेका उपाय बताते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है-

सद्धाय सीलेन च विरियेन च, समधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्न विज्जाचरणा परिस्सुता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकम्।१६।

इसका तात्पर्य यह है कि तुम श्रद्धा शील, वीर्य, समाधि, धर्म, निश्चय और विद्याके द्वारा दुःखका परित्याग कर सकोगे। योग-दर्शन के 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्, इत्यादि

साधन पाद के सूत्रोंके साथ इस की अद्भुत समानता है। इसी प्रकार बुद्ध वग्ग में लिखा है-

" अपिदिव्वेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खय रतो होति, सम्मासं बुद्ध सावको ॥९॥ "

इस में बुद्धोपासक तृष्णा क्षय में निरंतर तत्पर रहता है और दिव्य कामों में भी वह रति को नहीं प्राप्त होता। व्यास भाष्य में प्राचीन किसी ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया गया है-

(साधनपाद सु० ४२ का भाष्य)

" यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ "

अर्थात् जो कुछ भी दिव्य बडा भारी सुख है वह तृष्णाक्षय से जो सुख प्राप्त होता है उस का १६ वां हिस्सा भी नहीं है। इसी तरह योगदर्शन के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इस सूत्र में बताई हुई भावनाओंके अनुसार धम्म पदादि बौद्ध ग्रंथोंमें ब्रह्मविहार के नाम से मेत्ता विहारा, करुणा, मुदिता, उपेक्खा इन चार भावना ओंका उपदेश पाया जाता है। भिक्खु वग्गमें 'मेत्ता विहारी यो भिक्खु प्रसन्नो बुद्ध सासने' इत्यादि शब्द आये हैं। इन सब उदाहरणों से यह बात साफ जाहिर होती है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र का आधार अधिक तर आर्ष साहित्य पर ही था। मरते समय तक बुद्ध भगवान् ने शिष्यों को साफ कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं कर रहा किन्तु प्राचीन धर्मके तत्त्वों को ही लोगों के सामने रख रहा हूं। ब्राह्मण धम्मिक सुत्त आदि में इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है इसलिये यह मानना असङ्गत न होगा कि सीधे रूप में चाहे न हो पर बुद्ध की शिक्षाओंका आधार वैदिक कर्तव्यशास्त्र पर अवश्य था। वैदिक

कर्तव्यशास्त्र के अन्दर जिस कर्म नियमका प्रतिपादन है उस को बौद्ध ग्रन्थोंमें कितने जोरदार शब्दों में बताया है। पाप वग्ग में बुद्ध भगवान् ने उपदेश किया है-

"न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बता नां विवरं पविस्स।
न विज्जतीसो जगतिप्प देसो यत्रट्ठितो मुंचेय पाप कम्मा ॥"

अर्थात् अन्तरिक्षमें समुद्रके मध्य में पर्वतों की गुफा ओं में, सारे संसार में कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां बैठ कर पापी अपने पाप के परिणाम से बच जाए। इस के साथ वेदके-

"यस्तिष्ठति चरति, उत यो द्यामतिसर्पात्" इत्यादि की तुलना करनी चाहिये । अष्टांग मार्ग का आधार भी वेद में स्पष्ट पाया जा सकता है । सम्यग् दर्शन के विषय में 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' यह ऋ. १०।९० इत्यादि में आया हुआ वेद मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है जिस में यथार्थ ज्ञान को मोक्ष के लिये आवश्यक बताया गया है । सम्मा संकप्प का आधार 'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । इत्यादि वेदमंत्रों पर हो सकता है ! सम्मा वाचा के लिये ' अन्यो अन्यं वल्गु वदन्त एत' (अथर्व ३।३०।४) वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं, देवानां देवहूतिषु (अ० ५।७।४) इत्यादि वेदमन्त्रों को देखना चाहिये जिन में मीठे उत्तरा वचन बोलने का स्पष्ट कथन है ।

सम्मा कम्मन्त के लिये ' परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज (यजु ४।२८) 'आनो भद्रा क्रतवो यंतु विश्वतोऽदृब्धासो अपरीतास उद्भिदः', इत्यादि मन्त्रों पर विचार करना चाहिये जहां दुष्ट आचरणों का परित्याग कर के उत्तम कर्म करने का निश्चय प्रकट किया गया है। शुद्ध आजीविका के लिये ऋग्वेद, के ' शुद्धो रयिं निधारय, शुद्धो ममद्धि सोम्यः' इत्यादि मंत्रों को स्मरण करना चाहिये जिन में स्पष्ट ही शुद्ध हो कर तुम धन को

धारण करो और शुद्ध और सौम्य गुण युक्त होकर भोग करो यह आदेश है। शुद्ध ध्यान और विचार के विषय में फिर से वेद मंत्र उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं क्यों कि दूसरे परिच्छेद में पर्याप्त वेद मंत्रों द्वारा इस के बारे में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक कर्तव्योंके विषयमें भगवान् गौतम बुद्ध के विचार भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ ही बहुत कुछ समानता रखने वाले हैं। वैदिक वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मण वग्ग में बताया है-

"न जटा हि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥"

अर्थात् जटाए धारण करने गोत्र अथवा जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म हैं वही पवित्र है वही ब्राह्मण है।

" अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये ।
याय नाभिसजे किञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् "

जो कोमल, शिक्षादायक सच्ची बातको बोलता है और किसी कार्य वा वस्तु में आसक्त नहीं होता उसीको मैं ब्राह्मण कहता हूं।

श्लोक २१ में कहा है जो गंभीर बुद्धि वाला मेधावी, मार्ग और अमार्ग जानने वाला और उत्तम अवस्था को प्राप्त हुआ हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। श्लोक ९ में कहा है, काय वचन और मनसे जिसके अन्दर किसी तरह का पाप नहीं तीनों को जिसने से संवृत अर्थात गुप्त-सुरक्षित करके रखा हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। सुत्त निपात ६५० में कहा है—

" न जच्चा ब्राह्मणो होति,न जच्चा होति अब्राह्मणो ।
कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्मणा होति अब्राह्मणो । "

६५५ श्लोक में कहा है

" तपेन ब्रह्मचरियेण, संयमेन दमेन च ।
एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मण मुत्तमम् ॥"

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता किन्तु कर्म से ही अब्राह्मण होता है। तप ब्रह्मचर्य संयम दम इनके द्वारा पुरुष ब्राह्मण बनता है ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम है। "तृतीयपरिच्छेद" में वेद के अनुसार ब्राह्मणों के जो लक्षण और कर्म बताये गये हैं उनके साथ इन वाक्यों की तुलना करने पर बडी समनता दिखाई देती है। वेद के अन्दर शारीरिक वाचिक और मानसिक पवित्रता को संपादन करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य बताया गया है इस बात को सप्रमाण द्वितीय परिच्छेदमें दिखाया जः चुका है इसी बातको भगवान् गौतम बुद्ध ने क्रोध वर्ग में-

" काय दुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥११॥
वचो दुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे ॥१२॥
मनो दुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥"

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया है। शरीर वाणी मन से सब प्रकार की अपवित्रता दूर करके सदा उत्तम योग्य व्यवहार करना चाहिये ऐसा इन श्लोकों का तात्पर्य है।

जीवन का उद्देश्य यह कर्तव्यशास्त्रका अत्यावश्यक प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में वैदिक भाव का प्रथम परिच्छेद में निर्देश किया जा चुका है। बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के अनुसार निर्वाण प्राप्ति जीवनका उद्देश्य है। कइयोंका विचार है कि बौद्ध मतके अनुसार शून्य रूप हो जाना ही निर्वाण है पर वास्तवमें यह बात सत्य नहीं मालूम देती। निर्वाण का मुख्य तात्पर्य दुःख के नाशसे अवश्य है पर उस में पूर्णानन्दकी प्राप्ति का भाव भी जरूर मिला हुआ है। सुख वग्ग के ८ वे श्लोक में बुद्ध भगवान् ने कहा है—

" आरोग्य परमा लाभा, सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्साम परमो ञाति, निब्बाणं परमं सुखं॥"

इस का अर्थ यह है कि स्वास्थ्य की प्राप्ति बडा भारी लाभ है, संतोष बडा भारी धन है, विश्वास ही बडा भारी सबन्धी है और निर्वाण परम सुख है। इसी वर्गके सातवें श्लोक में भी 'निव्वाणं परमं सुखं' ये शब्द आये हैं। अप्पमाद वग्ग में निर्वाण के विषय में कहा है—

"ते झायिनो साततिका निच्चं दळह परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निव्वाणं योगक्खेमं अनुत्तरम् ॥३॥"

इस श्लोकमें निरन्तर ध्यान करने वाले धीर पुरुष निर्वाण की तरफ जाते हैं जो निर्वाण अनुत्तर योगक्षेम है अर्थात् जिस से श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है ऐसा बताया है। इस प्रकारके श्लोकोंसे यह बात साफ है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्रोंमें उपदिष्ट निर्वाण शून्य रूप अवस्था नहीं बल्कि अलौकिक स्थिर सुखकी कल्पना है अतः इस विषय में भी वैदिक और बौद्ध शास्त्रोंका समान ही अभिप्राय है।

दान के विषय में वैदिक उपदेशों के समान ही 'न वे कदरिया देवलोकं वजंति, बाला ह वे न प्पसंसन्ति दान' इत्यादि उपदेश धम्मपद लोक वग्ग आदि में पाये जाते हैं जिन में स्पष्ट कहा है कि कृपण लोग देव लोक में कभी नहीं जाते अर्थात् सद्गति नहीं प्राप्त करते और मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते किंतु धीर पुरुष दान करते हुए परलोकमें सुखी होते हैं इत्यादि। इन सब समानता ओं को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि बौद्ध कर्तव्य शात्र का भी वैदिक कर्तव्य शास्त्रके साथ सीधा या दूर का सम्बन्ध जरूर है। बुद्ध की जीवनियों में वेदाध्ययन का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है इस लिये कोई आश्चर्य नहीं कि इन में से कोई बातें उसने सीधी वेद के आधार पर कही हों और कुछ अन्य पातञ्जल योगदर्शनादिके आधार पर बताई हों। कम से कम गौतमबुद्ध ने इस बात का तो कभी दावा नहीं किया

कि वह जिन अहिंसादि तत्वों का प्रतिपादन करता था, वे प्राचीन आर्यों को ज्ञात न थे। ब्राह्मण धार्मिक सूत्र में बुद्धने स्पष्ट बताया है कि बहुत प्राचीन समय में ये हिंसात्मक यज्ञ न किये जाते थे, उस समय याज्ञिक लोग धान्य से हि होम करते थे, पीछे से ब्राह्मणों ने अधिक दक्षिणा के लाभ से यज्ञों में पशुहिंसा चलाई इत्यादि ।

पर एक बडा भारी प्रश्न हमारे सामने यहां पर उपस्थित होता है। कहा जाता है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र में परमात्मा के लिये कोई स्थान नहीं, बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट ही ईश्वर की सत्ता तक से इन्कार कर दिया ऐसी अवस्था में ईसाई मतका बौद्धमत से और बौद्ध मत का वैदिक धर्म से किसी तरहका सम्बन्ध माना ही कैसे जा सकता है। स्वयं बिल्कुल निष्पक्षपात रीतिसे पाली भाषा में लिखे हुए प्राचीन सभी बौद्ध ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किये बिना इस विषय में निश्चयात्मक उत्तर देना मेरे लिये कठिन है तो भी निम्न लिखित प्रमाणों से मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध ईश्वर की सत्ता से बिल्कुल इन्कार करने वाले न थे; यद्यपि ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर बहुत विचार करना वे अनावश्यक और अनुपयोगी मानते थे। धर्म के क्रियात्मक भाग और चरित्र शुद्धि को ही वे प्रधान और अन्य सब बातों को वे गौण मानते थे इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध होने के कारण इस परिच्छेद में प्रायः धम्म पद से ही उद्धरण दिये गये हैं अतः इस विषयमें भी हमें फिर एक बार धम्मपद पर दृष्टि डालनी चाहिये।

(१) धम्म पद में ईश्वर की सत्ता का कहीं खण्डन नहीं किया गया यह बात निर्विवाद है अब अत्तवग्ग का चतुर्थ श्लोक देखिये ...ङिकार है—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परोसिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥"

अर्थात् आत्मा का नाथ आत्मा हि है। आत्मा को संयम में करके दुर्लभ नाथ की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में दुर्लभ नाथ को आत्मा के द्वारा प्राप्त किया जाता है ऐसा लिखा है। क्या इस का यही अभिप्राय नहीं निकलता कि आत्मसंमय के द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और वह आत्मा (परमात्मा) ही इस जीवात्मा का नाथ है। मैं समझता हूं यही श्लोक का सीधा अर्थ है जिस में कोई खेंचातानी नहीं मालूम होती।

(२) धम्मपद नाग वग्ग का १३ वां श्लोक इस प्रकार है।

"सुखा मत्तेयता लोके, अथो पेत्तेयता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा॥"

इस श्लोक के पहले तीन चरणों में माता पिता का संमान करना और श्रमणों का सत्कार करना सुख दायक है यह बताते हुए अन्तिम चरण में कहा है कि 'अथो ब्रह्मज्ञता सुखा' अर्थात् ब्रह्मको जानना यह बडा भारी सुखका कारण है। मेरे विचार में इसका यही सीधा अर्थ है। इस से बुद्ध भगवान् ईश्वर की सत्ता से सर्वथा इन्कार न करते थे बल्कि उस में विश्वास करते थे यह बात स्पष्ट सूचित होती है। जरा वग्ग में 'अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा यौवने धनम्' इत्यादि श्लोकों में ब्रह्मचर्य शब्द आया है जिस का मुख्य शब्दार्थ वेद का अध्ययन अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यत्न यह है उस से भी कुछ न कुछ इस ऊपर कहे हुए भाव की पुष्टि होती है। अब अन्य ग्रन्थों के वाक्यों को लेंगे।

(३) दीर्घ निकाय संवाद १३ (तेविज्जसुत्त) में कथा आती है कि एक वार वसिष्ठ भरद्वाज नामक दो ब्राह्मण ब्रह्मके विषय में वाद विवाद करते हुए निर्णय के लिये बुद्ध भगवान् के पास

आये। दोनों का अभिप्राय सुन लेने पर बुद्ध ने कहा कि क्या उन दोनों में से किसी ने ईश्वर को देखा है, उत्तर नहीं में मिला। तब गौतम बुद्ध ने पूछा कि क्या किसी वेदज्ञाता पंडित ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है, फिर 'नहीं' में उत्तर मिला, तब प्रश्न करते करते बुद्ध ने कहा कि ब्रह्म के अन्दर ईर्ष्या द्वेष क्रोध मत्सरादि नहीं, वेद जानने वाले पंडितों के अन्दर भी जब ये सब बातें हैं वे किस तरह ब्रह्म दर्शन कर सकते हैं। तब उन दोनों ब्राह्मणों ने कहा कि हमने सुना है तथागत (गौतम बुद्ध) ब्रह्म के साथ मिलने के मार्गको जानता है तो कृपया हमें वह मार्ग दिखाइये। इस पर गौतम बुद्ध ने जो उत्तर दिया वह विशेष ध्यान देने योग्य है उसका अंग्रेजी अनुवाद— Sacred Books of The East Series Vol. XI. में इस प्रकार पाया जाता है-

That man born and brought up at Manasakta (name of the village)might hesitate or falter when asked the way there to. But not so does the Tathagat (Buddha) hesitate when asked of the Kingdom of God, for, I know both GOD AND THE KINGDOM OF GOD and the path that goes there to; I know it even as one who hath entered the Kingdom and been born there."

ये वाक्य यहां Buddhist and Christien Gospels by Edmunds M. A. VolI. P. 89 से उध्दृत किये गये हैं। यह सारी कथा पालकेरस की सुप्रसिद्ध पुस्तक Gospel of Buddha के पृ. ११८ – १२२ में पाई जाती है। ऊपर दिया हुआ अनुवाद दोनों में लग भग समान है। इन वाक्यों का अर्थ यह है कि जो पुरुष मनसा कृत नामक ग्राम में पैदा हुआ

और वहां पाला गया है वहभी चाहे उस ग्राम के रास्तों के बारे में पूरे निश्चय से कभी न कह सके (यद्यपि वैसी संभावना नहीं) पर तथागत (बुद्ध) से जब परमेश्वर के साम्राज्य के विषय में प्रश्न किया जाता है तो वह भूल नहीं कर सकता। क्यों कि मैं परमेश्वर उस के साम्राज्य और उस की प्राप्ति के मार्ग को वैसे ही जानता हूं जैसे कि एक उसी साम्राज्य के अंदर पैदा और प्रविष्ट हुआ हुआ पुरुष जानता है अर्थात् मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता।

इस कथा में दो ब्राह्मणों का ब्रह्म विषयक वाद विवाद में निर्णय के लिये बुद्ध के पास जाना, हम ने सुना है कि गौतम बुद्ध ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग को जानता है यह कहना, तथा बुद्ध का निश्चयात्मक कथन, ये सब इस बात के अत्यन्त प्रबल प्रमाण हैं कि गौतम बुद्ध नास्तिक न थे। ईर्ष्या द्वेष क्रोधादि के कारण बडे बडे वेद ज्ञानी भी ब्रह्म को देख नहीं सकते। अतः उन्ही दुर्गुणों को दूर करने और चरित्र शुद्ध करने की बडी भारी जरूरत है यह उन का मुख्य तात्पर्य था, न कि ब्रह्म की सत्ता से इन्कार करना। इस प्रकार के केवल दार्शनिक प्रश्नों को वे यतः अनुपयोगी समझकर उन्हें सुलझाने का विशेष यत्न न करते थे, इस लिये उन के अनुयायियों में धीरे धीरे नास्तिकता के भावों का प्रचार हो गया ऐसा मालूम होता है।

(४) प्रसिद्ध विद्वान् राइस डेविड ने ब्रह्मजाल सुत्त नामक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थका अंग्रेजीमें अनुवाद किया है उस में Dialogues Vol I. P ३० के निम्न वाक्य देखने योग्य हैं।

He (The Enlightened) says to himself "That illustrious Brahma, the great Brahma, the Supreme one, the Mighty, the All Seeing, the Ruler, the Lord of

all, the Maker, the Creator, the chief of all, the Father of all that are and that are to be, He by whom we were created, He is steadfast, immutable, eternal, of a nature that knows no change."

ये उद्धरण यहां The Buddhist and Christian Gospel by Edmonds Vol 1. P. 142 से लिये गये हैं। इन वाक्यों के अन्दर ब्रह्म को स्पष्ट ही सबसे बडा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबका स्वामी, कर्ता, अधिष्ठता और सबका पिता बताया गया है और साथ ही यह कहा है कि वह सर्वोत्पादक स्थिर, नित्य और अपरिणामी तथा एक रस है। जब तक यह न सिद्ध हो जाए कि यह भाषान्तर अशुद्ध है तब तक यही मानना सर्वथा योग्य मालूम होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध तथा उनके प्रारम्भिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता में अवश्य विश्वास करते थे। कई स्थानों पर जहां बुद्ध ने ईश्वरका खण्डन किया है वह ईश्वर की सत्ता मात्र का नहीं बल्कि उसे उपादान कारण मानने वा पुरुषके समान मानने की कल्पना का है ऐसा हमें प्रतीत होता है।

(५) दीर्घ निकाय संवाद १९ में बुद्धने उपदेश दिया है कि जो ध्यानाभ्यास करता है वही परमात्म दर्शन कर सकता है और अंगुत्तर निकाय ४। १९० के ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस प्रश्न के उत्तर में बुद्धने दया करुणा न्यायादि का उपदेश दिया है। पालीमें "ब्रह्म पात्तो होती" अर्थात् 'ब्रह्म प्राप्तो भवति,' ये शब्द वहां आये हैं जिन से साफ जाहिर होता है कि गौतम बुद्ध को ईश्वर की सत्ता स्वीकृत थी, यद्यपि पुरुषाकार शरीरधारी ईश्वर वा Personal God को वे न मानते थे।

(६) इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक उल्लेख योग्य घटना इस सम्बन्धमें यह है कि सन् १९१२ के दिसम्बर मासके शिकागो

से निकलने वाले Open court magazine नामक मासिक अख-बार में एक डा. मजीदानन्द स्वामी एम. ए. नामक बौद्ध भिक्षुने तिब्बत के कई स्थानों में प्रचलित सन्ध्या को अर्थ सहित प्रकाशित कराया था। इस सन्ध्या में "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान, हिरण्मयेन पात्रेण," इत्यादि वेद मन्त्रोंके अतिरिक्त "शं नो देवीरभिष्टये, वाक् वाक्, प्राणः प्राण, उद्वयं तमसस्परि" से "तच्चक्षुर्देवहितं" तक उपस्थान मन्त्र, गायत्री, "नमः शंभवाय च" इत्यादि वैदिक सन्ध्या के मनसा परिक्रमाको छोडकर प्रायः सब मन्त्र पाये जाते हैं। उन के अर्थ भी जैसे डाक्टर महोदय ने वहां दिये थे सब ईश्वर परक हैं Open court magazine का अंक मैं ने स्वयं देखा है। जब तक पुष्ट प्रमाणोंसे यह न सिद्ध हो जाए कि यह सब डा० मजीदानंद स्वामी की अपनी मनघडन्त कल्पना है तब तक यह साक्षि भी बडी प्रबल है। १९२० ई० के सितंबर मास में जब मुझे शांति निकेतन बोलपुर जानेका अवसर प्राप्त हुआ था तो मैंने वहां के एक उपाध्याय बौद्ध भिक्षु से इस विषय की सत्यता के बारे में पूछा था, तब उन्होंने बताया कि सब बौद्ध तो नहीं पर नागार्जुनादि ब्राह्मणधर्म से बौद्ध मत स्वीकार करने वाले कई पण्डितों के चेलों में अब तक उस प्रकारकी मन्त्र सन्ध्या का प्रचार जरूर चला आता है। इस लिये इस साक्षिको भी यों ही नहीं टाला जा सकता।

इन सब प्रमाणों से मुझे यह विश्वास होता है कि बुद्ध भगवान् और इनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता से इन्कार करने वाले न थे। इस में संदेह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र का आधार ही अधिक तर ईश्वर विश्वास इत्यादि पर है वैसे बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का नहीं। प्रायः बौद्ध ग्रंथोंमें कर्म स्वयं ही फल देने वाले हैं ऐसा माना गया है जो विशेष युक्ति युक्त

कथन नहीं मालूम देता । कर्तव्य शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाओं के होने पर भी बौद्ध धर्म में जो ईश्वर विश्वास भक्ति इत्यादि को विशेष स्थान नहीं दिया गया वह उस की बडी भारी निर्बलता को सूचित करता है क्यों कि यदि कर्म फल दाता कोई सर्व शक्तिमान ईश्वर नहीं है तो क्यों हम अच्छे कार्य करें इस का कोई संतोष जनक उत्तर नहीं दिया जासकता । इस प्रसंग को यहां समाप्ति करते हुए अब हम अहिंसा के तत्व विषयमें वैदिक कर्तव्यशास्त्र की अन्यों के साथ थोडी तुलना करेंगे ।

मैथ्यू. ५ । ३९ के अनुसार जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश किया है कि " Resist not evil, but who-oever shall smite thee on thy right cheek, turn to him the other also. "

अर्थात् बुराई का प्रतिरोध न करो किंतु यदि कोई तुम्हारी दाहिनी गाल पर चपेट लगाये तो वाईं गाल भी इस के सामने कर दो। बौद्ध ग्रन्थों में भी कई स्थान पर इसी तरहके उपदेश पाए जाते हैं । उदाहरणार्थ मज्झिम निकाय संवाद२१में बुद्धने कहा है कि यदि तुम्हारे गालों पर कोई चपेट लगाए तो भी तुम क्रोध में बुरे शब्द न कहो किन्तु उस के प्रति भी करुणा दृष्टि जारी रक्खो।

वेदों के अन्दर यह अहिंसा का तत्व कितने स्पष्ट शब्दोंमें पाया जाता है यह प्रथम परिच्छेद में सप्रमाण दिखाया जा चुका है। द्वेष भाव को दूर करके प्रेम भाव की वृद्धि करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये यह वेदके उन मंत्रों में वार वार उपदेश किया गया है । प्रश्न यह है कि संसार में सब प्राणी धर्मात्मा नहीं, सब अहिंसाव्रत के पालक नहीं, ऐसी अवस्थामें सब जगह सत्याग्रह से ही क्या काम चल सकता है? इस का उत्तर "हां" में देना कठिन है । अपने सामने एक पतिव्रतादेवी का अपमान होते हुए

अथवा किसी दुष्ट को पतिव्रता सती के धर्म को बलात्कार से भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हुए देख कर भी क्या हम चुप चाप बैठे रहें? इस प्रकार करना पाप न होगा? इस पर कहा जा सकता है कि दुष्ट पर हाथ चलाने की अपेक्षा देवी के पातिव्रतधर्मको बचाने के लिये अपना शरीर तक देने के लिये उद्यत रहना अधिक अच्छा है। इस बातको मान भी लिया जाए तो विदेशी शत्रु हमारे देश पर आक्रमण करें क्या उस समय भी हम केवल भगवान् के भरोसे बैठे रहें, वेद इस बात की आज्ञा नहीं देता। उस के अनुसार अच्छे प्रयोजन की सिद्धि के लिये आवश्यकता पडने पर शस्त्र पकडना क्षत्रियोंका धर्म ही है। जीसस तथा बुद्ध ने जो निष्प्रतिरोध वा non-resistance का उपदेश किया है वह ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिये तो ठीक है, पर यदि सब उसी का पालन करने लगें तो उस का परिणाम समाज के लिये घातक होगा। उस अवस्थामें दुष्टों का दबदबा जम जाएगा, अतः वेदमें जहां ब्राह्मणों के लिये यह कहा है कि वे 'तितिक्षन्ते अभिशस्ति जनानाम्' अर्थात् मनुष्यों द्वारा ज्ञान वा अज्ञान से की हुई (अभिशस्ति) हिंसा को अथवा अपमानादि को (तितिक्षन्ते) वे सहन करते हैं, वहां क्षत्रियों के लिये शत्रु नाशके लिये शक्ति भर कार्य करने का स्पष्ट उपदेश है। क्षत्रियों के कर्तव्य का वर्णन करते हुए जो 'वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूँरभि भूत्योजाः॥' अ. २०। ११। ६ इत्यादि मंत्र उद्धृत कर चुके हैं उन में इंद्र अर्थात् शूरवीर सेनापति अपने बल से पापियों को चूर चूर करता और अपनी चतुरता से दस्युओं पर विजय प्राप्त करता है, यह भाव अनेक बार सूचित किया गया है। 'उद्वृह रक्षः सह-मूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि' इत्यादि में जो राक्षसों के नाश का इंद्र अर्थात् शूरवीर सेनापति को उपदेश किया गया है,

वह भी इसी लिये है कि वेदकी दृष्टि में शस्त्र पकड़ना कोई पाप नहीं। नीच पुरुषों का नाश करना यह क्षत्रियों का परम धर्म है। इतना अवश्य है कि न्याय युक्त कार्य हो और जब यह देख लिया जा चुका हो कि शांतिस्थापना के लिये अन्य सब उपायों का अवलम्बन करने पर भी असफलता हुई है और युद्ध अनिवार्य है। महाभारत युद्धके समय श्रीकृष्ण ने मामले को शान्त करने के लिये अपनी तरफ् से पूरी कोशिश की और जब दुर्योधन ने 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' अर्थात् मैं युद्ध के बिना एक सूई की नोक जितनी जमीन भी न दूंगा। ऐसे कह डाला तभी श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को युद्ध द्वारा अपने अपने जन्म सिद्ध अधिकार को सुरक्षित करने का उपदेश किया। यही वैदिक भाव है। इस दृष्टि से जब तक वेदका अध्ययन न किया जाए तब तक उस का भाव अच्छी प्रकार समझ में नहीं आसकता। एक बात और इस विषय में उल्लेख के योग्य है। क्षत्रियों को अवश्यकता पडने पर अवश्य युद्ध करना चाहिये, यह वेद में बार बार कहा है। पर युद्धादि कर्तव्य जान कर करते हुए भी उन्हें मन के अन्दर द्वेष का भाव यथा संभव नहीं आने देना चाहिये, यह भाव भी वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है। उदाहरणार्थ अ. १९। १४। १ में विजय के अनन्तर विजयी राजा हारे हुए पुरुष को सम्बोधन करते हुए कहता है "असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु" अर्थात् मेरे लिये सब दिशाएं शत्रु रहित हों। तेरे साथ भी हम द्वेष नहीं करते। सब ओर से हमें निर्भयता प्राप्त होवे। जिस प्रकार एक न्यायाधीश वा जज किसी अपराधी को कैद वगैरह का दण्ड देते हुए भी उस व्यक्ति के लिये किसी तरहका द्वेष नहीं रखता वैसे ही क्षत्रियों को दुष्ट दमन रूप धर्म पालन करते हुए और

शस्त्रादि ग्रहण करते हुए भी द्वेष का भाव न रखना चाहिये। यह वैदिक भाव यहां स्पष्ट शब्दों में सूचित किया गया है जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है। वास्तवमें देखा जाए तो यही सब से अधिक क्रियात्मक और श्रेष्ठ शिक्षा है इस में कोई संदेह नहीं हो सकता। इस तरह से वैदिक कर्तव्य शास्त्र की ईसाई और बौद्ध कर्तव्य शास्त्रों के साथ संक्षेप से तुलना करते हुए और यह दिखाते हुए कि इन की सब उच्च शिक्षाओं का मूल वेद में पाया जाता है, इस परिच्छेद को समाप्त किया जाता है।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र.

पञ्चम परिच्छेद

वैदिक सिद्धान्त की उच्चता।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चताका कारण।

इस समय तक वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का वेद के अनुसार दिग्दर्शन कराया जा चुका है। चतुर्थ परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की अन्य मत के कर्तव्य शास्त्रों से तुलना करके दिखाई गई है। इस वैदिक कर्तव्य शास्त्र की विशेषता क्या है, क्यों इसे ही हम सर्वोच्च मानते हैं इस विषय पर थोडासा प्रकाश डालना जरूरी मालूम देता है। वैदिक धर्म की बडी भारी विशेषता जिस की ओर अनेक वार ध्यान आकर्षित किया जा चुका है वह यह है कि मनुष्य मात्र के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नतिके सब मुख्य तत्त्व इसके अन्दर स्पष्ट-रूप से पाये जाते हैं। अन्य किसी भी मतके ग्रन्थों में इतनी स्पष्टता और उत्तमता से इस समविकाश का प्रतिपादन नहीं किया गया। प्रथम परिच्छेद में इस समविकाश के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा चुके हैं इस लिये फिर उन्हें न दुहराते हुए सम विकाश के साथ मिलते जुलते एक दूसरे तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसे मध्य मार्ग के नाम से कहा

जा सकता है। संसार में प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य मध्य मार्ग का अवलम्बन न कर के किसी न किसी पराकाष्ठा पर तुल जाते हैं। उदाहरणार्थ कई पुरुष ऐसे हैं जो केवल अपनी ही वैयक्तिक उन्नति से सन्तुष्ट रहते हैं और सामाजिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। समाज सेवा करना भी प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्तव्य है इस तत्त्व को वे नहीं स्वीकार करते। दूसरे कई ऐसे पुरुष हैं जो पर्याप्त तौर पर अपनी शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियों के विकास करने का प्रयत्न न कर के केवल दूसरों की उन्नति के विचार में ही तत्पर रहते हैं वास्तव में देखा जाए तो ये दोनों ही आवश्यक हैं। दोनों में से कोई एक पर्याप्त नहीं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में सम्भूति असम्भूति पदों से सामाजिक और वैयक्तिक भाव का वर्णन करते हुए यह कहा है कि-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः॥
यजु. ४०। ८

अर्थात् जो केवल वैयक्तिक भाव के अन्दर मग्न रहते हैं वे अन्धकार को जाते हैं इस में कोई सन्देह नहीं किन्तु जो अपनी उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान न देकर दूसरों की ही उन्नति की चिंता करते हैं अर्थात् समाज के लिये जितनी योग्यता की आवश्यकता है उस को प्राप्त करने तक का यत्न नहीं करते वे उस से भी घने अन्धकार में जाते हैं। ज्ञान कर्म के विषय में भी वैसा ही विवाद प्रचलित है। कई सांख्य मार्गी केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म सब छोड देने चाहिये ऐसा बोलते हैं। मीमांसक लोग केवल यज्ञ यागादि करने मात्र से ही स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं। वेद के अन्दर

दोनों को मिलाने से ही वस्तुतः सद्गति होती है और सच्चा मनुष्य का कल्याण होता है ऐसा विद्या अविद्याके नाम से क्रमशः ज्ञान और कर्मका ग्रहण करते हुए बताया गया है। वेद में जहां ज्ञान की महिमा में-

" तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय "
(ऋ. १० । ९० । १५)

ऐसा कहा है कि ब्रह्मज्ञान से ही पुरुष मृत्यु के पार जाता है अन्य मोक्ष प्राप्त करने वा दुःख सागर से पार होने का कोई उपाय नहीं है वहां कर्म की महिमा में-

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु. ४० । १)

इत्यादि अनेक मन्त्र आये हैं जिनमें प्रत्येक पुरुष शुभकर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी कर्मके विषयमें ऋ. ९।३६।३में यह प्रार्थना आई है।

स नो ज्योतींषि पूर्व्य पवमान विरोचय।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु ॥

अर्थात् हे (पूर्व्य पवमान) पूर्वज, पवित्र करने वाले विद्वान्! (स नः ज्योतींषि विरोचय) तू हमारे लिये ज्योति को हृदयमें जगा दे और (नः) हमें (क्रत्वे दक्षाय) कर्म और बलके लिये (हिनु) प्रेरणा कर। ऋ ९। ४। ३ में इसी प्रकार-

'सना दक्षमुत क्रतुमुप सोममृधो जहि।'

यह प्रार्थना है जिस में पूर्वोक्त कर्मण्यता, बलवृद्धि और हिंसा के दूर करने का भाव सूचित किया गया है। ज्ञान कर्म दोनोंको मिलाने से ही सच्ची उन्नति हो सकती है यह-

' विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह '

इत्यादि वेद मन्त्र का अभिप्राय है यद्यपि कई मान्य विचारकों ने यहां विद्या अविद्या पद से आध्यात्मिक और प्राकृतिक ज्ञान का

ग्रहण किया है। इसी तरह भोग त्याग का वेद के अन्दर जितना सुन्दर मेल किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ में न होगा।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनं॥

(यजु. ४० । १)

इन शब्दों के अन्दर बडा भारी तत्त्व है। जगत् का त्याग पूर्वक भोग करो, लोभ मत करो यह धन प्रजापति परमेश्वर का ही है ऐसा सदा विचार करो यह सीधा अर्थ है। संसारके अन्दर प्रचलित मुख्य मुख्य मतों में से नवीन वेदान्त बौद्ध ईसाई मत आदिने जगत् को दोष और बन्धन रूप मान कर केवल त्यागको ही दुःख से छूटने का एक मात्र साधन बताया है। दूसरी ओर चार्वाकादि ने 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्॥' कह कर खाओ पीओ मौज उडावो इस भोगमय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

वास्तव में गम्भीर विचार करने पर मध्यमार्ग का अवलम्बन ही सब से श्रेष्ठ है जिस मध्यमार्ग का वेद में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इन शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है यह बात स्पष्ट हो जाती है। वेद में केवल अपने पेट भरने के लिये धन का उपभोग करने वाले को पापका उपभोग करने वाला बताया है इस बातका सप्रमाण पहले उल्लेख किया जा चुका है। श्रद्धा तर्क दोनों विरुद्धाभास वस्तुओं को भी वेद में मिला कर उपयोग करनेका—

" मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

अ० १०।२।२६

इत्यादि द्वारा स्पष्ट उपदेश किया गया है। स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष अपने मस्तिष्क और हृदय को सी कर कार्य करता है ऐसा मन्त्र का शब्दार्थ है। काव्य की भाषा में श्रद्धा तर्क को मिला कर कार्य करने का इस से बढ कर उत्तम शब्दों में उपदेश मिलना अत्यन्त

कठिन है। इस तरह वैदिक कर्तव्य शास्त्र की बडी भारी विशे-पता सम विकास के साथ साथ मध्य मार्ग का उपदेश है जिस का अन्य मतों के कर्तव्यशास्त्रों में प्रायः अभाव सा पाया जाता है।

वैदिक कर्तव्यशास्त्र की सर्वोच्चताका दूसरा कारण इसके उपदेशों की ओजस्विता है। ईसाई मत के समान अन्य कई संप्रदायोंका भी यह विश्वास है कि मनुष्य स्वभावसे पापी और पतित है। पौराणिक भाई सन्ध्या के समय ' पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः" इत्यादि कहने में अपना गौरव समझते हैं पर वेद का आशय उस प्रकार का नहीं है। वेद के अन्दर सब मनुष्यों को सर्व शक्तिमान् अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र मानते हुए जीवात्मा में सब पापों और काम क्रोधादि आत्मिक शक्ति को कम करने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है इस भाव को बार बार सूचित किया गया है। इस विषयक प्रमाणों का प्रथम परि-च्छेद में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक जीवन में भी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति ही सदा ध्येय होना चाहिये, यह वैदिक कर्तव्य शास्त्रका एक मुख्य सिद्धान्त है पापों से सर्वथा मुक्त कोई साधा-रण पुरुष नहीं, कोई भी ऐसा नहीं जिस के अन्दर किसी तरह की निर्बलता न हो यह बात ठीक है, तो भी अपने को बार बार पापी और निर्बल कहने से सिवाय अपनी शक्तिको दिन प्रति दिन अधिक क्षीण करने के और क्या लाभ होसकता है, इस लिये वेद पाप की तरफ जाने की प्रवृत्ति और निर्बलता को रोकने के लिये उस से विरुद्ध प्रबल भावना को धारण करने का उपदेश करता है।

' अदीनाः स्याम शरदः शतम् '

सौ वर्षों तक हम दीनता के भावसे रहित हो कर प्रभावशाली जीवन बनाते हुए कार्य करें यह भाव वेदोंमें अनेक जगह पाया

जाता है। वेद के मन्तव्यानुसार मनुष्यका शरीर ऋषियों का एक पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) यह शरीर देवताओं का एक पवित्र मन्दिर है (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) क्यों कि सूर्य चन्द्र वायु जल इत्यादि हमारे शरीर में आंख मन प्राण वीर्यादि के रूप में विद्यमान हैं। सर्व शक्तिमान् परमेश्वर हम सब मनुष्यों का पिता है, उस सर्व शक्तिमान् प्रभुके पास रहने का हमारे आत्मा को जन्मसिद्ध अधिकार मिला हुआ है वेद स्पष्ट शब्दों में " सखा नो असि परमा च बन्धुः " " युज्यो मे सप्त पदः सखासि " (अथर्व ५। ११) ' इंद्रस्य युज्य सखा " (ऋ० १। २२। १९) "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ १। १६४) इत्यादि मन्त्रों द्वारा जीव और परमेश्वर को मित्र बताता है।

मित्रता लगभग समान बल वालों में ही हो सकती है इस लिये यह स्पष्ट है कि जीवात्माके अन्दर भी गुप्तरूप से बड़ी दिव्य अद्भुत शक्ति विद्यमान है, ऐसी अवस्था में अपने को हीन दीन दुर्बल पतित मानना कितना अनुचित और हानिकारक है। आत्मविश्वास तथा ईश्वर भक्ति आदि के द्वारा हम आत्माके अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान शक्तियोंका विकाश करके सब पापों से छूट सकते हैं फिर हम अपने को बार बार पापी पापी कहा कर क्यों अपनी शक्ति का नाश करें यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का तात्पर्य है। मनुष्य को अपने को दासता के सब बन्धनों से मुक्त करना चाहिये, चाहे वे बन्धन आरम्भ में कितने ही उत्तम सुखदायी मालूम देवें, इस बात को " उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ॥ अ, ७। ८३। ३॥ तथा—

" प्रास्मत्पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।
अथर्व ७। ८३। ४

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है जिनमें उत्तम मध्यम नीच अर्थात् सात्विक राजस और तामस सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है, साथ ही यहां यह कहा है कि दुष्ट स्वप्न तथा सबके दुर्व्यवहारको तुम हम से दूरकर दो, जिस से हम उत्तम लोक में जाएं अर्थात् सद्गति प्राप्त करें। इन मन्त्रोंके साथ ही 'अश्मन्वतीरीयते संरभध्वम्' इत्यादि ऋग्वेद और यजुर्वेद में पाये जाने वाले मन्त्रका फिर से यहां स्मरण करना चाहिये जिसमें संसार को एक पथरीली नदी से उपमा देते हुए यह उपदेश किया है कि परस्पर सहायता करते हुए और बुरी बातों के त्याग पूर्वक अच्छे गुणों का ग्रहण करते हुए तुम सब इस संसार नदीके पार चले जाओ। ये उपदेश कितने ओजस्वी हैं और किस प्रकार एक मुर्दे दिल के अन्दर भी नया जीवन फूंकनेकी शक्ति इनमें पाई जाती है इस बातको विद्वान् अपने अनुभव से जान सकते हैं। यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वेदमें महत्वाकांक्षा को कोई बुरा नहीं माना गया। स्थान स्थान पर सर्वोत्कृष्ट होने और यश वर्चस इत्यादि से सम्पन्न होने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। इस विषयमें निम्न लिखित दो तीन मन्त्र विशेष विचारने योग्य हैं—

(१) यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मे प्रति मुच्यताम्।
यशस्व्यस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम॥

साम पू. ६। १२। १०

अर्थात् द्युलोक और पृथिवी मुझे यश देवें। इन्द्र (शूरवीर राजादि) और ज्ञानी गुरु मुझे यश दें। ऐश्वर्यका यश मुझे प्राप्त हो। यशकी मेरे ऊपर वृष्टि हो जाए, मैं यशस्वी हो कर इस परिषद् के अन्दर (प्रवदिता स्याम) सब से उत्तम भाषण करने

वाला हो जाऊं। इस तरह की भावना और महत्वाकांक्षा प्रत्येक राष्ट्रीय सेवक को धारण करनी चाहिये।

"(२) यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावा-
पृथिवी उभे इमे। यशसं मा देवः सविता
कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥"
अ० ६। ५८। १

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्यशाली पुरुष, द्युलोक पृथिवी लोक, सर्वोत्पादक परमेश्वर ये सब मुझे यशस्वी बनाएं और मैं दानियोंका प्रेम पात्र बनूं यह प्रार्थना की गई है।

"(३) यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
य शा विश्वस्य भूतास्यऽहमस्मि यशस्तमः॥ अ० ६।३९।३.

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अग्नि चन्द्र इत्यादि देव अथवा राजा ज्ञानी नेता सौम्यगुणयुक्त पुरुष यशस्वी हैं उसी प्रकार मैं भी सबप्राणियों के बीचमें सब से बढ़ कर यशस्वी होऊं। वर्च वा तेजके लिये:

"येन हस्ती वर्चसा सं बभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन् ते न मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं
कृणु॥" अथर्व ३। २२।३

इत्यादि मन्त्र देखने योग्य हैं। इन मन्त्रोंके देखने से यह बात साफ जाहिर होती है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र में महत्वाकांक्षाको बडा ऊंचा स्थान दिया गया है। निष्काम भावका उपदेश वेद में—

'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।'

(यजु. ४०। २) तथा 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अवश्य किया गया है किन्तु उस पर मालूम होता है बहुत अधिक बल नहीं दिया गया। इस समय तक मुझे निष्काम भाव के सूचक ये दो तीन निर्देश

ही मिले हैं कारण यह होगा कि सर्वथा निष्काम भाव को क्रियात्मक जीवन के अन्दर लाना अत्यन्त कठिन है। साधारण पुरुषों के आगे जब तक कोई सीधा प्रेरक भाव न रहे वे शुभकर्मों के अनुष्ठान में भी तत्पर नहीं होते, इस लिये वेद में आदर्श के तौर पर निष्काम भावका निर्देश करते हुए भी उस पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में—

" अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥"

ये जो श्लोक कहे हैं इन पर भी यहां मनन करनेकी आवश्यकता है। इन श्लोकोंमें बताया गया है कि सर्वथा निष्काम होना संभव ही नहीं है वेदाध्ययन तथा वेदोक्त कर्मयोग करनेकी कामना अवश्य होनी ही चाहिये। इस विषय में अधिक कहना कठिन है।

ऊपर यश वर्च इत्यादि विषयक प्रार्थनाएं दी जा चुकी हैं, धन के विषय में 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'। इत्यादि असंख्य प्रार्थनाएं वेदमें पाई जाती हैं पर इस बातको कभी नहीं भूलाना चाहिये कि वेदमें सत्य यश श्री इन तीनों को उत्कृष्ट मानते हुए सत्य को ही सर्वत्र मुख्य स्थान दिया गया है।

'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्'

यह जो वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है यह वेद मन्त्र नहीं तो भी उसका आधार यजुर्वेद के निम्न लिखित मन्त्र पर है—

" मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥

यजु० ३९।४

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि मैं (मनसः) मनकी (कामम्) कामना और (आकूति) शुभ संकल्प को (अशीय) प्राप्त करूं अर्थात् मेरे मनोरथ पूर्ण हों (वाचः सत्यम् अशीय) वाणीकी सत्यता का भोग करूं-सदा वाणीसे सत्य बोलूं (पशूनां रूपम् अन्नस्य रसः) पशुओंका उत्तम रूप और अन्नका अच्छा रस (यशः) यश (श्रीः) ऐश्वर्य (मयि श्रयताम्) मेरे आश्रयसे रहें इन तीनों सत्य, यश, श्री की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) मैं स्वार्थत्याग करता हूं। पशुओंके रूप अन्नके रसको श्रीके अन्दर ही संमिलित किया जा सकता है। इस प्रकार जहां सत्यको प्रधानता दी जाती है और पुरुप राजा हरिश्चन्द्र, महाराज रामचन्द्र, ऋषि दयानन्द आदि महानुभावोंकी तरह सत्यकी रक्षाके लिये यश और ऐश्वर्य का त्याग करने को सदा उद्यत रहता है, वहां यश और ऐश्वर्यके कारण किसी तरह की हानिकी संभावना नहीं हो सकती।

इस तरह निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने पर हमें साफ मालूम होता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र ही समविकास रूपी उन्नति के सच्चे मार्ग की ओर ले जाने वाला, मध्यमार्ग का सर्वत्र प्रतिपादन करने वाला और अत्यन्त ओजस्वी स्फूर्ति दायक (Inspiring) उपदेशों के कारण मनुष्यके लिये सबसे अधिक उपयोगी है। भोग त्याग, ज्ञान कर्म, श्रद्धा तर्क इत्यादि का जितना सुन्दर मेल इसके अन्दर पाया जाता है उतना कहीं भी नहीं पाया जाता। दूसरे मतके कर्तव्य शास्त्रों में जिन उच्च शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया है प्रायः उन सब का मूल वेद के अन्दर पाया जाता है और प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ उनका सम्बन्ध है। इतनी स्वतन्त्र विवेचना करने के पीछे अब इस विषयक यूरोपीयन विद्वानों के

मत की थोडी सी आलोचना करना आवश्यक मालूम होता है। सब विद्वानों का इस विषय में एक ही मत नहीं है तोभी बहुत से विकासवाद वा Evolution theory को मानने वाले पाश्चात्य विद्वान् कल्पना करते हैं कि वेद सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं जो प्रारम्भिक जंगली सभ्यता का अधिकतर निर्देश करने वाले हैं। ऋग्वेद ज्यादहतर अग्नि वायु सूर्य इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति से भरा पडा है यजुर्वेदके अन्दर फजूल यज्ञ यागादि की चर्चा है, साम वेद प्रायः सोम नामक मद्य की महिमा का वर्णन करने वाला है और अथर्व वेद जादू टोने की बातों से भरा पडा है। इन वेदों के अन्दर कर्तव्यशास्त्र के विषय में कोई उल्लेख योग्य उत्तम उपदेश नहीं पाये जाते इत्यादि। इस समय तक हम ने वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए जो अत्यन्त ओजस्वी जीवनोपयोगी तत्त्व बतलाये हैं वे स्वयं इस यूरोपियन विचार की असत्यता को साबित करने वाले हैं। इस लिये हमें इस विचार की आलोचना में कुछ ज्यादह लिखने की जरुरत नहीं मालूम देती। यदि जगत् के अन्दर कार्य करने वाले अटल नियमों का ज्ञान, अपने समान सब प्राणियों को देखने का उच्च भाव, सब प्रकार के पापों को दूर करने का निश्चय, शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सम विकास, व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध, बाह्य और आन्तरिक स्वराज्य प्राप्ति का भाव, सत्य की रक्षा के लिये सर्वस्व तक त्याग करने का उच्च भाव, निर्भयता की पूर्ण रूप से प्राप्ति, देश सेवा में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगाने का भाव—ये सब उच्च भाव यदि जंगली लोगोंके अन्दर पाये जा सकते हैं, यदि बिल्कुल क्रियात्मक श्रेष्ठ मध्यमार्ग का उपदेश जंगली अर्धसभ्य लोगों के बताए हुए ग्रन्थोंमें पाया जा सकता है तो निःसंदेह वेद उन जंग

लियों के बनाये ग्रन्थ हैं और उन के अन्दर जिन उच्च भावोंका प्रकाश किया गया है वे कोई महत्त्व पूर्ण भाव नहीं हैं। पर कोई भी पक्षपात रहित पुरुष इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ये सब तत्त्व अत्यन्त उच्च हैं और अन्य मत के किसी भी कर्तव्य शास्त्र में इन तत्त्वों का इतनी उत्तमतासे प्रतिपादन नहीं किया गया इस लिये वेद फजूल बातों से भरा हुआ है, जीवनोपयोगी आचार विषयक उपदेश उस के अन्दर नहीं है यह मानना केवल अपने पक्षपात और दुराग्रह को प्रकट करने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सब यूरोपियन विद्वानों का वैदिक कर्तव्य शास्त्र के विषयमें एक ही अभिप्राय नहीं है। उनमें से भी कई ऐसे हैं जिन्हों ने निष्पक्षपात हो कर वैदिक कर्तव्य शास्त्र को समझने का यत्न किया है और इस विषयमें वे ठीक पहले विचारोंके उल्टे परिणामपर पहुंचे हैं। उदाहरणार्थ डार्विन के साथ ही प्राकृतिक जगत्में विकासवादके आविष्कारक डा० रसेल वैलेस अपने ग्रन्थ "Social Environment and moral progress में इस प्रकार लिखते हैं—

"In the earliest records which have come down to us from the past we find ample indications that general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today though in some respects they differed from ours. The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings, pure and lofty as those of the finest portion of the Hebrew Scriptures." (page 11)

अर्थात् पुराने समयके जे लेख हमें इस समय मिलते हैं उनमें भी हम इस बात के काफी निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समयके सदाचारादि विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूप में भी कम दर्जेके नहीं थे यद्यपि कई अंशोंमें वे भिन्न जरूर थे। वेदके नामसे प्रसिद्ध संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भागके तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इस बातके समर्थन में डा० वैलेस ने अपने ग्रन्थमें कुछ सूक्तों का भाषान्तर भी उद्धृत किया है।

म० फिलिप नामक एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् के मतका उल्लेख करना भी यहां अनुचित न होगा। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The teachings of the Vedas' के उपसंहारमें वे लिखते हैं

"The conclusion therefore is inevitable that the development of religious thought in India has been uniformly downward and not on-ward. We are justified therefore in concluding that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation"

इन वाक्यों का भाव यह है कि हम यह परिणाम निकालने को बाधित हैं कि भारत में धार्मिक विचारमाला में क्रमशः अवनति हुई है उन्नति नहीं। इस लिये इस परिणाम पर पहुंचना सर्वथा हमें उचित मालूम देता है कि वैदिक आर्योंके उच्च और अधिक पवित्र विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे। अन्य भी अनेक निष्पक्षपात विद्वानों के इस अभिप्राय के समर्थक मत दिये जा सकते हैं पर विस्तार के भय से ऐसा करनेकी जरूरत नहीं। वास्तविक बात यह है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र को निष्पक्षदृष्टि से विचार करनेका बहुत थोडे यूरोपीयन विद्वानों ने कष्ट उठाया है।

इस विषयमें Sacred Books of the East seriesके Russian Edition के सम्पादक म. बौलङ्गर (Mr Boulanger) का लेख उल्लेख करने योग्य है जिस में उन्हों ने प्रसिद्ध यूरपीय विद्वान् प्रो. मैक्समूलर के अटकल पच्चू अनुवाद (स्वयं Vedic Hymns में प्रो. मैक्समूलरने स्वीकार किया है कि " My translation (of the Veda) is conjectural. " अर्थात् मेरा वेद्का अनुवाद अटकल पच्चू वा अनुमान पर आश्रित है) की कडी समालोचना करते हुए कहा है—

What struck me in Max Muliar's translation was a lot of absurdities, obscene passages and a lot of what is not lucid. As far as I can grasp the teaching of the Vedas, it is so sublime that I would look upon it as a crime on my part if the Russian Public become acquainted with it through the medium of a confused and distorted translation, thus not deriving for its soul that benifit which this teaching should give to the people. "

अर्थात् प्रो. मैक्समूलर के (और यही बात प्रायः सब यूरपीय भाष्यकारों के विषय में कही जा सकती है) अनुवाद में जिस बात से मुझे अत्यन्त हैरानी हुई वह यह है कि उसमें बहुतसी बेहुदी अश्लील और अस्पष्ट बातें हैं। जहां तक मैं वेदों की शीक्षा को समझ सकता हूं मुझे वह इतनी अधिक ऊंची मालूम होती है कि रशियन जनता के एक गडबड और भद्दे अनुवाद के द्वारा उस से परिचय कराने को मैं बडा भारी अपराध (जुर्म) मानता ; क्यों कि इस से वह, उस आत्मिक लाभ से वंचित रह जाएगी जो वैदिक शिक्षा जनता को देती है॥ "

तृतीय परिच्छेद में सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए मुख्यतः यज्ञ शब्द के अन्दर अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका भाव आ जाता है यह दिखाया जा चुका है। जहां कहीं यह 'यज्ञ' शब्द आता है युरोपीयन विद्वान् झट उस का Sacrifice ऐसा अर्थ कर देते हैं और अन्य जातियों के अन्दर पशु वलि दानादि की प्रथा को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आर्यों के अन्दर भी बकरी घोडे बैल इत्यादि को देवताओं की तृप्ति के लिये वलि चढाने की प्रथा थी ऐसा पहले से मान कर चलते हैं, इन में से कई महानुभावों ने तो प्राचीन समय में मनुष्यवलि भी दी जाती थी यह दिखाने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ म. रागोज़िन का Stories of the Nation Series में प्रकाशित Vedic India नामक पुस्तक में निम्न लिखित लेख प्रकाशित हुआ है जो बडा मनोरंजक है—

" There can be no doubt what-ever that human sacrifices were parts of Ancient Aryan worship."

" An intenified form of Purush Medh is that in which a large number of victims-166 or even 184 men of all sorts and conditions- are immolated. (p.408)

अर्थात् इसमें जरा भी सन्देह नहीं हो सकता कि नर-वलि प्राचीन आर्यों की पूजा पद्धति का भाग थी। पुरुष मेध का सब से अधिक प्रभाव शाली रूप यह है जिस में सब प्रकार और स्थिति के १६६ वा १८४ पुरुषों तक का वध किया जाए। इन सब यज्ञादि विषयक यूरोपीयन कल्पनाओं पर विचार करना इस निबंध का विषय नहीं। यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि यज्ञ के लिये अध्वर शब्द का प्रयोग न केवल वेद में वल्कि प्रायः सब के सब प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में पाया जाता है। यज्ञ शब्द के

धात्वर्थ के अन्दर पशुवलि चढाने के भाव की गन्ध तक नहीं जब तक यह पहले से कल्पना न कर ली जाए, जैसे कि यूरोपियन विद्वानों ने कर ली है कि देव पुजा के लिये (प्राचीन सारे संसार की जातियोंके अन्दर प्रचलित विश्वास के अनुसार) पशुओं की वलि चढाना अत्यावश्यक और अनिवार्य है। अध्वर शब्द का हिंसारहित कर्म यह अर्थ निरुक्तादि में स्पष्ट दिया है। साथ ही महाभारत की निम्न लिखित उक्ति को जब ध्यान में रखते हैं कि--

> सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
> धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु विद्यते॥
> अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
> संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥
>
> (म० भा० शान्तिपर्व) मोक्षधर्म अ० २६६

अर्थात् मद्य पान मत्स्य मांस श्राद्ध निमित्त से खिचडी वनाना इत्यादि ये सब धूर्तों ने चलाया है वेद के अन्दर यह सब नहीं बताया गया। जो लोग मूर्ख, मर्यादा न जानने वाले, नास्तिक, संशयात्मा पुरुष हैं" अर्थात् एक शब्द में जो वेदके तात्पर्य को न समझने वाले धूर्त या मूर्ख लोग हैं उन्हीं ने हिंसा का वर्णन किया है। वेद में हिंसा का विधान नहीं पाया जाता। इन उक्तियों को ध्यान में रखते हुए कई वेद मन्त्रों के सत्य अर्थ के विषय में संशय रहते हुए भी हम निश्चय पूर्वक यह कहने का साहस करते हैं कि अश्वमेध, गोमेध आदि के विषय में यूरोपियन विद्वानों की कल्पना असंगत जरूर है। प्राचीन आर्यों को कम से कम इतना वेवकूफ नहीं माना जा सकता कि वे एक कार्य को हिंसा रहित कार्य के नाम से वार वार पुकारते हुए उस के अन्दर मनुष्यों तक की हिंसा करने में न संकोच करे। आश्चर्य की वात यह है

है कि वे ही यूरोपीय विद्वान् जो जिन्द अवस्था आदि में आए हुए गोमेज इत्यादि शब्दों का भूमि में हल चलाना वगैरह अर्थ स्वीकार करते हैं वेद में उस के गौओं के मारने के अतिरिक्त और किसी उत्तम अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। यह यज्ञ का विषय बहुत लम्बा चौडा होने के कारण स्वतन्त्र विस्तृत निबन्ध की अपेक्षा रखता है इस लिये यहां इस के विस्तार में हम नहीं जा सकते।*

इस परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चताका कारण क्या है इस विषय पर विचार प्रारम्भ किया था। सम विकाश मध्यमार्ग उपदेशों की ओजस्विता इत्यादि कुछ कारणों का यहां तक निर्देश किया गया है। इस वैदिक कर्तव्यशास्त्र की एक बडी विशेषता यह भी है कि इस में मनुष्य समाज को श्रम विभाग वा Division of Labour के वैज्ञानिक उपयोगी सिद्धान्त के आधार पर ४ वर्णों में बांट दिया गया है। इन चारों वर्णोंका परस्पर प्रेम पूर्वक व्यवहार होना चाहिये इस वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर ही होना चाहिये यह वैदिक सिद्धान्त है जिस के विस्तार में जाना यहां अनावश्यक है। यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि किसी भी देश में इन चार प्रकार के लोगों की सत्ता कुछ न कुछ अंशतक जरूर रहती है। कोई भी देश वा जाति न होगी जिस में अध्यापक वा उपदेशक, सिपाही,

---

*विस्तार से इस विषय को जानने की इच्छा रखने वाले सज्जन श्री पं. सातवळेकर जी "स्वाध्यायमंडल" औंध (जि. सतारा) द्वारा सम्पादित 'वैदिक यज्ञ संस्था' नामक ग्रन्थ जिसमें इस निबन्ध लेखक का भी एक लेख 'वैदिकयज्ञ और पशुहिंसा' पर है तथा सुयोग्य विद्वान् श्री पं. विश्वनाथजी विद्यालंकार अध्यक्ष वेद महाविद्यालय गुरुकुल काङ्गडी कृत 'वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा' नामक पुस्तक अवश्य पढें।

व्यापारी और सेवक इन में से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो क्यों कि उस दशा में समाज का गुजारा चलना ही असम्भव है। वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अन्दर इन चारों वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों को व्यवस्थित करने का यत्न किया गया है ता कि मनुष्य समाज का धारण उत्तमता से शान्ति पूर्वक हो सके। जब तक ये चारों वर्णों के लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और जन्म से उच्च नीच का भाव न मानते हुए एक दूसरे के साथ समानता और प्रेम का व्यवहार करते थे तभी तक शान्ति का सारे संसार में राज्य था, जब से उस वैदिक वर्ण व्यवस्था का स्थान प्रचलित आनुवंशिक जाति भेद ने ले लिया निश्चय उसी दिन से भारत का अधः पतन शुरू हुआ और हमारे देश की दशा सुधरने की तब तक कोई आशा नहीं जब तक फिर से वैदिक कर्तव्य शास्त्र में प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था का वर्तमान अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए पुनरुद्धार न किया जाए। निःस्वार्थी तपस्वी ब्राह्मणों की जब तक समाज में प्रधानता नहीं होती तब तक सच्ची उन्नति की आशा रखना सर्वथा व्यर्थ है।

कई महानुभाव इस उपर्युक्त स्थापना की सत्यता में सन्देह करते हैं। वे कहते हैं बौद्ध कर्तव्यशास्त्र के ग्रंथों में और बाइबल इत्यादि में जिस समदृष्टि का वर्णन किया गया है भगवद् गीता में भी—

" विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥"

गीता अ. ५। १८

इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस समदृष्टि का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अन्दर उस का अभाव पाया जाता है। ऐसे महानुभावों के भ्रम को दूर करने के लिये इस

विषय पर थोडा प्रकाश डालना आवश्यक है क्यों कि यह कर्तव्य शास्त्र के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाला विषय हैं। निम्न लिखित कुछ वेद मन्त्र पर इस के वारे में विचार करना चाहिये।

(१) ऋ १० । ५३। ४ में यह मन्त्र आया है—

" तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम ।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥"

इस मन्त्र का अर्थ ऐसा मालूम होता है कि वाणी के उस मूल कारण का हम मनन करते हैं जिस की सहायता से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त किया। जो पुरुष ऊर्जाद् अर्थात् पराक्रमी हैं जो (यज्ञियासः) पूजनीय हैं वे सब, इतना ही नहीं (पञ्च जनाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद वा जंगली भील आदि ये सब के सब (मम होत्रं जुषध्वम्) मुझ ईश्वर की पूजा करो। वाणीके मूल कारण से तात्पर्य सम्भवतः ओ३म् अथवा वेद का होगा पर निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। 'पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्' इन शब्दों से सब पुरुषों का ईश्वर के ध्यान तथा अग्निहोत्रादि करने का समान अधिकार है यह भाव स्पष्ट सूचित होता है। अगले मन्त्र में भी फिर ' पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम् ' ये शब्द आये हैं।

(२) यजु० अ० २६ के सुप्रसिद्ध-

" यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च स्वाय ॥ वा०य०२६।२॥

इस मन्त्र में वेद को पढने का अधिकार चारों वर्णों और निषादों तक को समान रूप से है यह भाव पाया जाता है।

(३) अथर्व ३ । ४ । ३ में प्रार्थना है—

" इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टेः शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥"

अर्थात् ये पांच दिशाएं (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, और मध्य भाग) और पांच, प्रकार के मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) ये सब के सब (वृष्टेः शापं नदीरिव) जिस प्रकार वर्षा के पीछे नदी का जल बढ़ जाता है वैसे ही ये (इह) इस संसार में (स्फातिं समावहान्) वृद्धि को प्राप्त होवें। इस मन्त्र में सब के सब मनुष्यों की वृद्धिका अत्युच्च भाव स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है।

(४) अथर्व १३। ४। (४) ४२ में परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा है—

"पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा सुराय वा।
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया।
यद्वा जन्यमवीवृधः।
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम्॥"

अर्थात् हे (मघवन्) परमैश्वर्य युक्त परमेश्वर तू पापी, सज्जन पुरुष, असुर सब के लिये (औषधीः कृणोषि) ओषधियों वा वनस्पतियों को बनाता है सब के लिये समान रूप से वृष्टि करता और (जन्यं) उत्पन्न होने वाले धान्य आदि को बढाता है। (तावांस्ते महिमा) भगवन् यही तेरी बडी भारी महिमा है तेरे अनेक अद्भुत रूप हैं अर्थात् तेरे गुण अनन्त हैं।

इसी मन्त्र के भाव को भगवद् गीता में—

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
भ. गी. ५। १९

इत्यादि श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया गया है जिनका अभिप्राय यह है कि जिन लोगों का मन समभाव में स्थित है– जो सब प्राणियोंको समान रूपसे देखते हैं, वास्तव में वही ब्रह्ममें स्थित हैं क्यों

कि निर्दोष ब्रह्मकी दृष्टि में सब समान हैं। जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए मैं० । ५ । ४५ के अनुसार

" That ye may be the children of your father, which is in heaven for he maketh his sun to rise on the evil and the good and sendeth rain on just and the unjust.

यह जो बात कही है उसकी उपर्युक्त वेद मन्त्र और गीता वाक्यके साथ तुलना विचार करने योग्य है। समान रूपसे वृष्टि का ऊपर के मन्त्र में उल्लेख किया गया है निम्न लिखित मन्त्रमें समान रूपसे सूर्यप्रकाश वाली बातका भी स्पष्ट उल्लेख है।

(५) "त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः । तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ अथर्व १२ । १ । १५

इस मन्त्रमें मातृभूमि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे (पृथिवि) मातृभूमे ! सब मनुष्य तेरे से उत्पन्न होते और तुझमें विचरण करते हैं तू ही मनुष्यों और चौपाए पशुओंको धारण करती है। ये (पञ्चमानवाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद सब (तव) तेरे ही समान पुत्र हैं (येभ्यः) जिन सब (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य समान रूपसे (रश्मिभिः) अपनी किरणोंसे (अमृतं ज्योतिः आतनोति) अमृत स्वरूप ज्योति का विस्तार करता है। जिस प्रकार परमेश्वरके राज्यमें सूर्य समान रूप से सब पर प्रकाशादि करता है उसी प्रकार सब मनुष्योंको परस्पर समान दृष्टि से देखना और प्रेमसे वर्तना चाहिये यह वेद मन्त्र के अन्दर गुप्त भाव है। इन इस प्रमाणोंसे यह बात साफ है कि वेदमें समदृष्टि का स्पष्ट उपदेश है। इन्हीं मन्त्रोंमें वेदके अध्ययन का अधिकार

सब पुरुषोंको समान है यह बात भी बताई गई है। इस लिये वैदिक कर्तव्य शास्त्र के इन प्रचलित संकुचित अर्थों में भी सार्व भौम होने में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाए तो किसी धर्म ग्रन्थ को पढने का समान अधिकार सब पुरुषों वा स्त्रियों को होने से ही कोई धर्म सार्वभौम नहीं बन जाता। सार्वभौम धर्म वही हो सकता है जिस में एक व्यक्ति की शारीरिक मानसिक आत्मिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात के निर्देश के अतिरिक्त व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है, राष्ट्रीय उन्नति कैसी हो सकती है, प्रत्येक मनुष्य के पारिवारिक राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्य क्या हैं इस विषयक उपयोगी निर्देश पाए जाएं। यह बात विना किसी तरह के संकोच और सन्देह के कही जा सकती है कि सार्वभौम धर्मका यह लक्षण केवल वैदिक धर्म में ही घटता है अन्य किसी भी मत वा संप्रदाय में वह पूरे तौर पर नहीं घट सकता। धर्म शब्द का धात्वर्थ ही धारण करना है। धर्म वही है जिस से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का धारण हो। राजा प्रजा का क्या सम्बन्ध होना चाहिये, राजा के अन्दर कौन कौन से गुण होने चाहियें, प्रजा कैसी होनी चाहिये इत्यादि आवश्यक उपयोगी विषयों को केवल वैदिक कर्तव्य शास्त्र में ही विचार किया गया है। अन्य बौद्ध ईसाई इत्यादि मतों के कर्तव्य शास्त्रों में उन सब बातों का निर्देश तक नहीं पाया जाता है। ऐसी अवस्था में उन के पढने का अधिकार सब को समान होने से ही उन को सार्वभौम कर्तव्य शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं, उन के अन्दर कई ऐसी शिक्षाएं पाई जाती हैं जिन के अनुसार यदि सब मनुष्य चलने लगें तो समाज वा राष्ट्र का काम तक चलना बिल्कुल असंभव हो जाए। उदाहरणार्थं बाईबल के अन्दर धन की जो इतनी

निन्दा की गई है और धनी आदमियों के लिये परमेश्वर के राज्य में प्रवेश करना ऊंठ के सुई की नोक में से निकलनेकी अपेक्षा भी ज्यादह असम्भव है (It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God)

इस को सत्य मानते हुए यदि सब व्यवहार करने लगें तो समाज की कितनी हीन दशा हो जाए। इसी प्रकार "यदि कोई तुम्हारी एक गाल पर चपेट लगाए तो दूसरी गाल भी उसके सामने कर दो" यदि सब इस शिक्षा का अनुसरण करने लगें तो निःसंदेह दुष्ट पुरुषों का समाज पर दबदबा हो जाए और उन्हीं की सब जगह दाल गलने लगे, पर ईसाई मतके कर्तव्य शास्त्र में इस दृष्टि से समाजहित का बिल्कुल विचार तक नहीं किया गया।

यही बात बौद्ध कर्तव्य शास्त्रके विषयमें भी सत्य है। यदि गौतम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार सब के सब मनुष्य संसार को क्षण-भङ्गुर और केवल दुःखरूप समझ घर बार छोड कर भिक्षु बनने लगें तो समाज और राष्ट्र का कार्य कैसे चले। इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने के लिये ही वैदिक कर्तव्य शास्त्र में वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया गया है जो सामाजिक जिवन की हजारों समस्याओं को आसानी से हल कर सकता है। इस तरह विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का एक प्रधान कारण उस की सार्वभौमता अर्थात् सब मनुष्यों के लिये सब अवस्थाओं में समान रूप से उपयोगिता है।

अन्त में उपसंहार के तौर पर दोचार शब्द लिख कर इस निबन्ध को समाप्त किया जाता है।

इस निबन्ध का पांच परिच्छेदों में विभाग किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल भूत ईश्वर की अध्यक्षतामें कार्य करनेवाले अटल सार्वभौम नियम, कर्मनियम, जीवन का उद्देश्य, सत्य, निर्भयता, स्वाधीनता, सम विकाशादि सिद्धान्तों की वेद मन्त्रों के आधार पर व्याख्या की गई है।

दूसरे परिच्छेद में वेद मन्त्रों के आधार पर ईश्वरभक्ति, त्रिविध पवित्रतादि, वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का संक्षेप से विचार किया गया है जिन में स्त्रियों की स्थिति तथा आदर्श विषयक उच्च वैदिक भावों की विशेष तौर पर व्याख्या की गई है।

तीसरे परिच्छेद में यज्ञ को मुख्य तौर पर वेदोक्त सामाजिक कर्तव्यों का स्तम्भ रूप मानते हुए उस की वेद मन्त्रों के आधार पर थोडी सा व्याख्या है और फिर अग्नि इन्द्रादि देवताओं के नाम से वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का कैसा उत्तम वर्णन है इस बात को दिखाते हुए वैदिक राष्ट्रीय भावों का थोडासा विवरण किया गया है।

चौथे परिच्छेद में ईसाई मत के कर्तव्य शास्त्र की बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना की गई है और फिर बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ अनेक आश्चर्य जनक समानताओं का निर्देश करते हुए उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर थोडा प्रकाश डाला गया है।

पांचवें परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की समविकाश, मध्यमार्ग, सार्वभौमता इत्यादि अनेक विशेषताओं का संक्षेप से निर्देश करते हुए इस विषयक यूरोपियन विद्वानों के मतकी थोडी सी आलोचना की गई है।

निबन्ध के अन्दर स्थान स्थान पर इस बात का निर्देश किया गया है कि मनुस्मृति योगदर्शनादि में वर्णित आचार तथा सामा-

जिक कर्तव्यों का मूल वेद में ही पाया जाता है। मनुस्मृति में चारों वर्णों के जो धर्म बताये हैं उन का आधार वेद में पाये जाने वाले उपदेशों पर है इस बात को निम्न लिखित श्लोक में भृगुने स्वयं स्पष्ट बताया है—

" यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः । "

अर्थात् मनु महाराजने जिस जिस वर्ण का जो जो धर्म बताया है वह सब वेद के आधार पर कहा है क्यों कि निश्चय से वेद के अन्दर सारा ज्ञान पाया जाता हैं। इसी प्रकार योगदर्शन के अन्दर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये जो १० यम नियम बताये गये हैं उन का भी मूल वेद में ही पाया जाता है इस बात को निबन्ध में दिखाने का यत्न किया गया है। भगवद्-गीता के अन्दर दैवी आसुरी प्रकृति का वर्णन तथा अनेक कर्म योगादि विषयक उत्तम तत्त्व वेद के ही आधार पर वर्णन किये गये हैं यह बात इस निबन्ध के अन्दर स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इस प्रकार जिस वेद में अन्य कर्तव्य शास्त्रों के सब के सब उत्तम तत्त्व पाये जाते हैं, जिस में मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति के लिये आवश्यक सब ही बातों का निर्देश पाया जाता है उसके पढने पढाने का क्रम जब तक फिर से जारी न किया जायगा तब तक हमें अपने धर्म का सच्चा ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। ' वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है उस को पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ' आचार्य ऋषि दयानन्द के इस आदेश की ओर ध्यान देना प्रत्येक आर्य का मुख्य कर्तव्य है ॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

'वैदिक कर्तव्य शास्त्र'

की

'विषय-सूची'

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

संस्कृत पाठ माला।

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी से ४) प्रति भाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य-) एक आना। अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।
इन भागोंमें संस्कृतके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।
इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग।
इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।
इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधी बताई है।

५ एकादश भाग।
इस भागमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।
इस भागमें समासोंका विचार किया है।

७ तेरहसे अठारहवें भाग तकके ६ भाग।
इन छः भागोंमें क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवें भागतकके ६ भाग।
इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।
अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।